

चैतन्य महाप्रभु : एक जीवन झांकी

लेखक—डा. विजयेन्द्र स्नातक

चैतन्य महाप्रभु:
एक जीवन झांकी — डा. विजेन्द्र स्नातक
1987



मध्ययुगीन भारत की राजनीतिक स्थिति :

भारत के इतिहास में मध्ययुग अनेक प्रकार के राजनीतिक परिवर्तनों, युद्धों, बाह्य आक्रमणों और धार्मिक आन्दोलनों का युग रहा है। मुगल साम्राज्य की स्थापना के बाद भी इस विशाल देश में युद्ध और संघर्ष का वातावरण किसी न किसी रूप में बना हुआ था। इस संघर्ष-संकुल वातावरण के कारण जनमानस में असुरक्षा और आतंक की ऐसी गहरी छाप पड़ी थी कि किसी देवी शक्ति की शरण में आने के सिवा किसी अन्य शरण-स्थल की कल्पना वह कर ही नहीं सकता था। भारत के प्रायः सभी प्रदेशों में भय और आशंका के काले बादल मंडरा रहे थे। पराजित जाति का मनोबल ध्वस्त हो गया था। वैचारिक अन्तः विरोध और व्यावहारिक असंगतियां समाज में पनप रही थीं। हिंदू जनता के चिरपोषित जीवन मूल्य, धार्मिक विश्वास और सांस्कृतिक संस्कार बुरी तरह लड़खड़ा रहे थे। अद्वैत वेदान्त का मायावाद जगत् को मिथ्या सिद्ध करने के साथ वैराग्य भावना का प्रचार कर रहा था। शाक्त मत की तांत्रिक साधना के प्रचार से जीवन के आनन्द-पक्ष को कठोर साधनाओं ने अच्छन्न कर लिया था। बौद्धों का सहजिया सम्प्रदाय भी सरल स्वभाव की जनता को विपथगामी बना रहा था। ऐसी विषय परिस्थिति में देश पर होने वाले बाह्य आक्रमणों एवं धार्मिक आघातों को रोकने की शक्ति शास्त्र में नहीं रह गई थी। आक्रमक का शस्त्र हमारे शास्त्र पर भी



कुठारघात कर रहा था। संसार की असारता का बखान करने वाले ज्ञानी पंडित यह भूल गये थे कि जिस ब्रह्म को वे सत्य घोषित कर रहे हैं वह भक्ति और प्रेममार्ग से भी प्राप्त हो सकता है। हताश और पद-दलित जातियां नैराश्य और कुंठा के बीच विषण्ण हो जाने के कारण अपने आत्मबल को ही भुला देती हैं। मध्ययुग में ऐसी ही अवसाद पूर्ण मनोदशा में पराजित हिन्दू जाति जीवित थी। अत्याचार-पीड़ित जाति का मनोबल टूटकर बिखर चुका था। भगवान् की शरण में जाने के सिवा कोई मार्ग नहीं था।

बंगदेश का परिवेश :

उत्तर भारत में तो मुगल साम्राज्य की स्थापना पन्द्रहवीं शताब्दी में हो गई थी किन्तु पूर्वी प्रदेश में साम्राज्य के स्तर पर शासक वर्ग का प्रभाव नहीं था। कुछ मुस्लिम आक्रान्ता बिहार और बंगाल में लूटपाट के उद्देश्य से आए और वहां से अपार धन-सम्पत्ति लूटकर ले गये। ऐसे लुटेरों में मुहम्मद बख्तियार का नाम उसके अत्याचार और नृशंसतापूर्ण कार्यों के लिए क्षोभ और घृणा के साथ याद किया जाता है। मुहम्मद बख्तियार ने बंग-देशीय विद्वान् पंडितों को मौत के घाट उतारने और समृद्ध पुस्तकालयों को राख का ढेर बनाने में अपने कायरतापूर्ण पराक्रम का परिचय दिया था। उसके धर्म परायण हिन्दुओं को भ्रष्ट तरीकों से धर्म परिवर्तन के लिए भी विवश किया था। बंगाल में उस समय जो हिन्दू राजा थे वे मुस्लिम आक्रान्ताओं से आतंकित रहते थे। साधारण जन के मन में तो आक्रमण और युद्ध का भय सदैव बना ही रहता था।

बंगाल के गौड़ देश का शासक हिन्दू राजा सुबुद्धिराज के यहां हुसैन खां नामक एक पठान फौजी अफसर था। हुसैन खां ने षडयंत्र रचकर राजा सुबुद्धिराय को गद्दी से उतार दिया और स्वयं गौड़देश का शासक बन गया। शासक बनने के बाद इसने अपना नाम हुसैनशाह रख लिया। अपने शासक-प्रबंध के लिए हुसैनशाह ने कुछ विद्वान् हिन्दू पंडितों को भी नियुक्त किया था उनमें सनातन गोस्वामी और रूप गोस्वामी अति प्रसिद्ध हैं। सनातन गोस्वामी का पद शाकर मल्लिक (मुख्य मंत्री)और रूपगोस्वामी का पद दबीरखास (निजी सचिव) का था। ये दोनों व्यक्ति हुसैन शाह के दरबार में इन्हीं नामों से पुकारे जाते थे। हुसैन शाह के पश्चात् गौड़ देश की गद्दी पर नसरत शाह, फिरोजशाह और गियासुद्दीन मुहम्मद शाह बैठे। इनके शासन काल में गौड़ देश की प्रजा को जिस प्रकार के कष्ट झेलने पड़े इसकी कथा अत्यन्त व्यथापूर्ण है। इन मुसलमान राजाओं ने हिन्दू धर्म और हिन्दू जाति को नष्ट करने के लिए अमानुषिक अत्याचारों का तांता लगा रखा था। इन अत्यचारों और दमनचक्रों का वर्णन कवियों और नाटककारों ने विस्तार पूर्वक अपनी रचनाओं में किया है।

विद्या प्रेम और शास्त्र चर्चा का वातावरण :

राजनीतिक दृष्टि से आर्त और विपन्न होने पर भी बंगाल में ज्ञान पिपासा और विद्यानुराग में कमी नहीं आई थी। संस्कृत की उच्चस्तरीय पाठशालाएं (टोल) बड़े नगरों में स्थापित थीं और वहां दर्शनशास्त्र, व्याकरण, साहित्य, ज्योतिष आदि शास्त्रों का गहन अध्ययन-अध्यापन होता था। इन्हीं नगरों में नवद्वीप (नदिया) न्याय, वेदान्त, व्याकरण, ज्योतिष और साहित्य के लिए विख्यात केन्द्र था। नवद्वीव को विद्या का पुण्यतीर्थ माना जाता था। इस नगर की पूर्वांचल में वही प्रतिष्ठा थी जो उत्तरांचल में काशी की है। भारत के सुदूर प्रदेशों से ज्ञान पिपासु विद्या प्रेमी विद्यार्थी नवद्वीप में आकर ज्ञानार्जन करते और शास्त्र चर्चा में रस लेते थे।

इसी सुप्रसिद्ध विद्याकेन्द्र नवद्वीप (नदिया) में मग्न मनोरथ, हताश और संत्रस्त जाति को आत्मनिवेदन, समर्पण और मानव प्रेम की रसमयी भक्ति का संदेश देकर पुनरुज्जीतित करने वाले चैतन्य महाप्रभु का आविर्भाव हुआ था। चैतन्य ने हताशा और पराजय को आशा और विजय में बदलने का जिस पद्धति से उपक्रम किया वह मानव जाति के इतिहास में अद्‌भुत और अपूर्व था। ऐसा प्रयोग संघर्ष और संत्रास के बीच जूझती जाति के लिए पोयूष वर्षा का मोहक प्रयोग था। जन-मानस के उद्‌बोधन के लिए जितना प्रभावी काम चैतन्य की नूतन भक्ति पद्धति ने किया वैसा न तो किसी शास्त्र से संभव था और न किसी संत-महात्मा के उपदेशों से ही ऐसा विराट् परिवर्तन आ सकता था। यह एक ऐसा विशुद्ध मानवतावादी धार्मिक आन्दोलन था जिसका आधार जीवदया, करुणा, प्रेम और भगवद्‌भक्ति था।

चैतन्य महाप्रभु का आविर्भाव :

बंगाल प्रान्त में नवद्वीप नगर विद्या केन्द्र के रूप में विख्यात था। अनेक सुप्रसिद्ध विद्वान् पंडितों की पाठशालाएं इस नगर में स्थापित थीं। उनके माध्यम से ज्ञान चर्चा, शास्त्रार्थ और संवाद का यहां वातावरण बना रहता था। इसी नगर में पंडित जगन्नाथ मिश्र नाम के एक पंडित रहते थे। ज्योतिषाचार्य नीलाम्बर चक्रवर्ती की पुत्री शची के साथ उनका विवाह हुआ था। जगन्नाथ मिश्र और नीलाम्बर चक्रवर्ती का मूल निवास स्थान श्रीहट्ट था जिसे छोड़कर दोनों के परिवार नवद्वीप (नदिया) में बस गये थे।

पंडित जगन्नाथ मिश्र अध्यापन वृत्ति से जीविकोपार्जन करते थे। पांडित्य के कारण उन्हें पुरन्दर उपाधि मिली थी। उनका जीवन सात्विक था। नित्यप्रति प्रातः गंगास्नान, पूजा-पाठ भागवत का अध्ययन उनकी दिनचर्या थी। उनकी पत्नि शची भी इसी रीति से अपने पति के साथ रहती थी। इस दम्पति को एक ही कष्ट था। शची के गर्भ से क्रमशः आठकन्याओं का जन्म हुआ और आठों का निधन हो गया। विश्वरूप इनकी नौवी सन्तान थी। यह पुत्र बड़ा मेधावी, विनयी, आज्ञाकारी

और विद्याप्रेमी था। शैशव से ही यह ज्ञानार्जन के लिए उत्सुक रहता था। फलतः अपने सहपाठियों में यह कुशाग्र बुद्धि का छात्र समझा जाता था। इसके बाद दसवीं संतान भी पुत्ररत्न ही थी। मिश्र-दम्पति दसवीं संतान पुत्र रूप में होने पर अति प्रसन्न थे किन्तु इस पुत्ररत्न का जन्म असाधारण परिस्थिति में हुआ था। शची देवी के गर्भ में यह दशम पुत्र बारहमास रहा था। तेहरवें मास में यह उत्पन्न हुआ। जन्म का दिन फाल्गुन मास की पूर्णिमा का था। चन्द्रग्रहण का दिन होने से वैष्णव भक्तों में चन्द्रमा को राहुग्रास से बचाने के लिए अनुष्ठान हो रहे थे। 'हरिबोल' का निनाद पूर्ण चन्द्र की छटा से सर्वत्र व्याप्त था। ज्योतिष शास्त्र के अनुसार नक्षत्रों की यह शुभ घडी थी किन्तु चन्द्रग्रहण को विलक्षण भी माना जाता है। शक संवत् के अनुसार १४०७ तथा ईसवी सन् के अनुसार १४८६ में इस बालक का जन्म हुआ था। जगन्नाथ मिश्र ने बालक का नाम विश्वम्भर रखा किन्तु शची मां ने बालक का नाम निमाई इसलिए उचित समझा कि नीम के पेड़ के नीचे बनी कुटिया में बालक का जन्म लिया था।

शैशव की क्रीड़ाएं :

बालक विश्वम्भर का शैशव विचित्र प्रकार के क्रीड़ा-कौतुक से परिपूर्ण होने के कारण माता-पिता के लिए चिन्ता का विषय बन गया था। विश्वम्भर का रूप-सौन्दर्य तो अप्रतिम था। तप्त सोने के समान दीप्तिमय गौरवर्ण, उन्नत ललाट, घुंघराले केश, सुदृढ़ देहयष्टि, विशाल नेत्र और चपल गति के कारण यह बालक असाधारण कोटि का प्रतीत होता था। माता-पिता इसे नदिया का सर्वश्रेष्ठ पंडित बनाना चाहते थे किन्तु विश्वम्भर का मन पाठशाला में नहीं रमता था। पौथी-पुस्तक को छूना भी उसे सुहाता नहीं था। गंगा स्नान और समवयस्क बालवृन्द के साथ खेल-कूद में मस्त रहना ही उसका स्वभाव था। निमाई का जन्म अपने बड़े भाई विश्वरूप के जन्म के दस वर्ष बाद हुआ था अतः माता-पिता निमाई को बड़े लाड़-दुलार से रखते थे किन्तु निमाई किसी की परवाह किये बिना स्वच्छन्द, उद्दंड, बालक की भांति विचरण करने लगा था। केवल हरिबोल शब्द से ही वह शान्त होता अन्यथा उपद्रव और उद्दंडता उसका स्वभाव बन गया था। कभी-कभी वह पड़ोसियों के घर में घुसकर चुपचाप मिठाई वगैरह भी खा लेता था। पकड़े जाने पर मस्ती के साथ नाच उठता और हरिबोल के साथ गीत गाने लगता। उसका यह नटखटपन पड़ोस की महिलाओं के लिए मनोरंजन का माध्यम बन गया था। वैष्णवभक्तों को विश्वम्भर की इन बाल क्रीड़ाओं में कृष्ण की बाल लीलाओं की छवि लक्षित होती थी।

पांच वर्ष की आयु हो जाने पर नवद्वीप का प्रत्येक ब्राह्मण बालक पाठशाला में प्रवेश पाकर विद्याध्ययन प्रारंभ कर देता था किन्तु विश्वम्भर को पाठशाला जाना कतई पसन्द नहीं था। पाठशाला के समय पर विश्वम्भर भागीरथी के तट पर अपने

नटखट साथियों को लेकर पहुंच जाता और स्नानार्थियों को तरह-तरह से परेशान करता। उसकी यह क्रीड़ा कृष्ण की लीलाओं जैसी ही होती थी। स्नान के बाद जब सब लोग पूजा के लिए नैवेद्य तैयार करते उसे भी विश्वम्भर चोरी से उठा ले जाता और खा जाता। इन सब क्रियाओं से माता-पिता अत्यन्त खिन्न रहते थे किन्तु विश्वम्भर में कोई सुधार करने में अपने को सर्वथा असमर्थ पाते थे। एक-दो बार जगन्नाथ मिश्र ने बेटे को दंड देकर भी मार्ग पर लाना चाहा लेकिन उन्हें सफलता नहीं मिली।

बड़े भाई का गृह-त्याग

विश्वम्भर के बड़े भाई विश्वरूप का स्वभाव गंभीर और अध्ययन शील था। विश्वरूप ने बड़े मनोयोग पूर्वक वैदान्त दर्शन का अध्यन किया था। अद्वैत नाम के एक संत से विश्वरूप का घनिष्ट परिचय हो जाने के बाद उसके मन में वैराग्य का उदय हुआ और उसने अपने मामा के पुत्र लोकनाथ के साथ मिल कर गृहत्याग का निर्णय किया। गृहत्याग से पहले उसके मन में अपने छोटे भाई को विद्वान पंडित के रूप में देखना की इच्छा थी अतः उसने स्वयं अपने टोल में उसे प्रवेश दिलाकर पढ़ने में लगाया था। विश्वरूप के मन में बड़ी द्विविधा थी। माता-पिता और छोटे भाई के प्रेम उसे संसार में बांधता था तो विरक्त होकर मानवमात्र की सेवा की भावना उसे गृहत्याग के लिए विवश करती थी। कुछ समय तक यह ऊहापौह विश्वरूप के मन में रही किन्तु अन्त में उसने घर छोड़ने का निर्णय ले लिया और रात्रि के समय परिजनों को सोता हुआ छोड़कर विश्वरूप अपने मित्र लोकनाथ के साथ सदा के लिए संसारिक सम्बन्धों से मुक्त हो गया। उस समय विश्वरूप की आयु सोलह वर्ष थी और उसके पिता जगन्नाथ मिश्र उसके विवाह के लिए उपयुक्त कन्या की खोज में थे किन्तु विधि विधान विचित्र था। विश्वरूप संन्यासी होकर सब प्रकार के बंधनों को तोड़कर अज्ञात स्थान को प्रयाण कर गया। विश्वम्भर के मन पर इस अप्रत्याशित घटना का गहरा प्रभाव पड़ा और उसके शील-स्वभाव में अचानक परिवर्तन आने लगा। अपने माता-पिता को विश्वरूप के गृहत्याग के कारण दुखी देखकर बालक विश्वम्भर ने उन्हें सान्त्वना देते हुए कहा कि आप दोनों बड़े भाई की वैराग्य भावना से खिन्न न हो, मैं उसके स्थान पर आपकी सेवा में सदैव तत्पर रहूंगा।

अपने ज्येष्ठ पुत्र के गृहत्याग से पंडित जगन्नाथ मिश्र के मन में विद्याध्ययन के प्रति विराग पैदा हुआ। वे सोचने लगे कि पुस्तक ज्ञान से विश्व रूपको संसार से वैराग्य उत्पन्न हुआ। यदि विश्वम्भर भी योग-वैदान्त आदि शास्त्र पढ़ेगा तो यह भी विरक्त होकर गृह त्याग देगा अतः विश्वम्भर को पाठशाला भेजना उचित नहीं। विश्वम्भर ने अपने पिता की इच्छापूर्ति के लिए पाठशाला जाना बन्द कर दिया

और अपनी उद्दंड प्रकृति के अनुसार पुनः खेल-खिलवाड़ में मस्त रहने लगा। इस क्रीड़ा-कौतुक में भूले विश्वम्भर को अपने कर्तव्याकर्तव्य का बोध नहीं रहा और वह अनुशासनहीन बालक की भांति आचरण करने लगा। इस अनुशासनहीनता ने उसकी मां शची को खिन्न बनाया और उसने पुनः अपने बेटे को पाठशाला भेजने का उपक्रम किया। पाठशाला जाते ही विश्वम्भर ने अपनी विलक्षण प्रतिभा का परिचय दिया और जो कुछ पाठशाला में पढ़ा उसे भलीभांति समझा और कंठस्थ कर लिया।

यज्ञोपवीत संस्कार :

ग्यारह वर्ष की आयु में बालक विश्वम्भर के यज्ञोपवीत संस्कार का समारोह बड़ी धूमधाम से सम्पन्न हुआ। पंडित जगन्नाथ मिश्र ने यज्ञोपवीत-मंत्र बालक के कान में पढ़ा और सूत्र धारण कराया। इस पुनीत संस्कार के समय एक विचित्र घटना घटित हुई। कान में मंत्रोच्चार के साथ ही विश्वम्भर मूर्च्छित हो गया और उसे रोमांच हो आया। आखों से अश्रु प्रवाह होने लगा। देह की सुध-बुध नहीं रही। इस घटना को उपस्थित जनसमूह ने अलौकिक समझा किन्तु इसके गूढ़ रहस्य को उस समय दर्शकगण समझ न सके। बाद में यह समझ में आया कि बालक विश्वम्भर अपने अस्तित्व में रहते हुए भी किसी दिव्य शक्ति के प्रभाव में है और जो कुछ उस के द्वारा हो रहा है वह भक्तिभावना का ही प्रभाव है। इस समय विश्वम्भर के क्रिया कलाप में काफी परिवर्तन आ गया था। वह एक संवेदनशील, गंभीर, विवेकी बालक के रूप में व्यवहार करने लगा था।

उपर्युक्त अचेतावस्था की घटना के समय उसके पिता वहां उपस्थित नहीं थे। जब उन्हें इस घटना का पता चला तो वे स्वयं चकित रह गये। उन्होंने विश्वम्भर से जानना चाह कि उसे अचेत दशा क्यों हुई किन्तु विश्वम्भर ने उनके प्रश्न का कोई उत्तर नहीं दिया।

जगन्नाथ मिश्र का वार्धक्य था। उनकी जीवन लीला समाप्त होने का समय आ गया था। विश्वम्भर को इस बात का आभास हो गया और उसने पिता के चरण स्पर्श करते हुए उनसे कहा कि आप मुझे अनाथ बनाकर किसके सहारे छोड़े जा रहे हैं। आपके बाद मेरी देखरेख कौन करेगा? कौन मेरी शिक्षा का प्रबंध करेगा? जगन्नाथ मिश्र ने इतना ही कहा, बेटे मैं इस संसार से जा रहा हूं किन्तु मेरी इच्छाएं अभी अपूर्ण हैं। तुम्हें मै ईश्वर के भरोसे छोड़ रहा हूं। वही तुम्हारी रक्षा करेगा। यह कहकर जगन्नाथ मिश्र ने इस संसार से विदा ली।

पाठशाला में प्रवेश और व्याकरण-अध्ययन

पंडित जगन्नाथ मिश्र की मृत्यु के बाद निमाई की माता शची अपने पुत्र को

पंडित गंगादास की पाठशाला में व्याकरण शास्त्र के अध्ययन के लिए ले गई। गंगादास अपने समय के विख्यात वैयाकरण थे। उन्होंने सहर्ष निमाई को अपना छात्र बनाना स्वीकार किया। निमाई की आयु तो उस समय चौदह वर्ष की ही थी किन्तु वह अपनी मेधा और प्रज्ञाशक्ति के बल पर अपने सहपाठियों से कहीं अधिक विद्या अर्जन करने लगा। कमलाकान्त, कृष्णकान्त, और मुरारिगुप्त जैसे प्रसिद्ध पंडित निमाई के साथ उसी पाठशाला में पढ़ते थे। निमाई की उनके साथ शास्त्र के विषयों पर नौक-झौंक होती रहती थी। जब कभी ये लोग कहीं बाहर घूमने जाते निमाई इनसे शास्त्रार्थ करने से न चूकता। वैष्णवों के साथ उसकी शास्त्रचर्चा अवश्य होती। व्याकरण शास्त्र का अध्ययन समाप्त करने के बाद निमाई ने तर्कशास्त्र पढने के लिए सार्वभौम वासुदेव की पाठशाला में प्रवेश लिया। वासुदेव सार्वभौम न्यायशास्त्र के विख्यात विद्वान् थे। उनकी पाठशाला में दीधिति के रचयिता रघुनाथ भी पढ़ते थे। रघुनाथ महत्वाकांक्षी व्यक्ति थे और न्यायशास्त्र में विश्वविख्यात पंडित होना चाहते थे। एक दिन वासुदेव सार्वभौम ने रघुनाथ पंडित से एक सूक्ष्म हैत्वाभास को स्पष्ट करने के लिए कहा। रघुनाथ ने बहुत प्रयत्न किया किन्तु वे उसका हल न निकाल सके। इसी बीच निमाई, रघुनाथ के पास आये और उन्हें उदास देखकर उदासी का कारण पूछा। रघुनाथ ने बताया कि आचार्य जी ने एक हैत्वाभास की समस्या का हल मुझसे पूछा था। मैं सारे दिन उसके हल में लगा रहा किन्तु सफल नहीं हो सका। निमाई ने सहज स्वभाव हैत्वाभास की समस्या रघुनाथ से पूछी और तत्काल उसका हल भी प्रस्तुत कर दिया। रघुनाथ पंडित निमाई की इस नवनवोन्मेषशाली प्रतिभा को देखकर स्तब्ध रह गये।

न्यायशास्त्र पढते हुए निमाई ने न्याय पर एक अपनी टीका लिखी थी। रघुनाथ पंडित ने इस टीका का अंश निमाई के मुख से सुना तो उन्हें विस्मय हुआ कि ऐसी गंभीर टीका यह विद्यार्थी कैसे लिख सका। रघुनाथ ने निमाई से बड़े खिन्न स्वर से कहा कि मैं अपनी 'दीधिति' टीका के द्वारा विश्व विश्रुत होने का स्वप्न देख रहा था किन्तु तुम्हारी टीका ने मेरा स्वप्न भंग कर दिया। इस टीका को पढ़कर दीधिति को कोई नहीं पूछेगा। निमाई ने रघुनाथ की बात बड़े धैर्य से सुनी। वे दोनों नौका में बैठे थे। निमाई ने रघुनाथ को प्रबोधते हुए कहा, 'यह न्याय दर्शन व्यर्थ का दर्शन है। इसमें कोई लाभ नहीं होता। मैंने जो कुछ लिखा है वह भी सार्थक नहीं है। यह कहकर रघुनाथ का मन रखने के लिए अपनी पुस्तक की पांडुलिपि गंगा में प्रवाहित कर दी। रघुनाथ यह दृश्य देखकर निमाई की उदारता और सदाशयता पर चकित दृष्टि से विचार करते रहे। निमाई की टीका गंगा के गर्भ में समा गई और रघुनाथ की टीका दीधिति जगत् में प्रसिद्ध हो गई। इस घटना के बाद निमाई के मन में आत्मविश्वास उत्पन्न हुआ और उसने निश्चय किया कि वह अपनी पाठशाला खोल कर छात्रों

को व्याकरण और न्याय की शिक्षा देगा। षोडश वर्षीय निमाई अब साधारण विद्यार्थी न रहकर एक विद्वान पंडित के रूप में प्रसिद्ध हो गये थे।

पाठशाला की स्थापना और ईश्वर पुरी से भेंट :

जिस समय निमाई ने अपनी पाठशाला की नदिया में स्थापना की उसी समय नदिया में माघवेन्द्र पुरी के शिष्य ईश्वरी पुरी का आगमन हुआ। ईश्वर पुरी ने निमाई की मेघा और प्रतिभा के विषय में पहले ही सुन रखा था। उन्हें यह भी पता चल गया था कि यह युवक दिव्य तेज से परिपूर्ण है और भक्ति के आवेश में यह इतना गहरा डूब जाता है कि इसे संसार की सुधबुध नहीं रहती। ईश्वर पुरी उन दिनों राघाकृष्ण के प्रेम विषय पर एक ग्रंथ लिख रहे थे। ईश्वर पुरी ने निमाई से इस ग्रंथ रचना में सहयोग देने का आग्रह किया जिसे निमाई ने सहर्ष स्वीकार किया। निमाई की आयु उस समय अठारह वर्ष की थी किन्तु ईश्वर पुरी निमाई को श्रद्धास्पद मानकर पूज्य बुद्धि से देखते थे। निमाई ने ईश्वर पुरी से मिलकर मित्रता का भाव दृढ़ किया था किन्तु उस समय मंत्र दीक्षा आदि का कोई प्रसंग नहीं आया था। हां, एक प्रसिद्ध पंडित, जिनका नाम केशव कश्मीरी कहा जाता है, नदिया में पधारे थे। केशव कश्मीरी शास्त्रार्थ महारथी दिग्विजयी पंडित के रूप में विख्यात थे। ऐसी किम्वदन्ती थी कि केशव कश्मीरी पर सरस्वती देवी की असीम कृपा है और वही इन्हें विजयी बनाती है। केशव कश्मीरी की निमाई से गंगा तट पर भेंट हुई और दोनों ने एक दूसरे से परिचय प्राप्त किया। इस संक्षिप्त परिचय के बाद निमाई ने केशव कश्मीरी से गंगा की स्तुति में श्लोक रचना के लिए कहा। केशव ने तत्काल सौ श्लोक बनाकर सुना दिये। निमाई ने इस श्लोकों में से बीच के दो श्लोकों की व्याख्या करने के लिए केशव पंडित से निवेदन किया। केशव पंडित आश्चर्यचकित रह गये कि निमाई ने बीच के श्लोक किस प्रकार सुनाये। क्या यह श्रुतिघर है? निमाई ने केशव कश्मीरी के श्लोक में व्याकरण की त्रुटियां भी बताई और केशव पंडित से उनके विषय में चर्चा की केशव अपनी त्रुटियां उस समय तो स्वीकार नहीं कर सके किन्तु रात्रि भर अपने मन में विचार करने के बाद इसी परिणाम पर पहुंचे कि निमाई पंडित का कथन ही सही है। केशव ने प्रातः काल होने पर अपनी भूल स्वीकार की और निमाई पंडित को अपना गुरु मान लिया। इस प्रकार एक दिग्विजयी महापंडित को परास्त कर निमाई ने नदिया में और अधिक प्रसिद्धि प्राप्त की।

विवाह और दीक्षा

निमाई की आयु विवाह योग्य हो गई थी अतः शची देवी ने पाठशाला की स्थापना के बाद श्री वल्लभ आचार्य की गुणवती कन्या लक्ष्मी से निमाई का विवाह

कर दिया। इसी बीच निमाई पंडित को घर से दूर पूर्वी बंगाल में भ्रमण की इच्छा हुई। पूर्वी बंगाल में भ्रमण करते समय उनका परिचय वहां के वैष्णव लोगों से हुआ। इस यात्रा के बाद जब निमाई वापस नदिया में आये तो उनका मन प्रसन्न और तन पहले की अपेक्षा स्वस्थ था। घर आने पर उन्हें विदित हुआ कि उनकी पत्नी की सर्पदंश से मृत्यु हो गई है। घर में फिर एकाकीपन का वातावरण है। निमाई की मां शची इस एकाकीपन को दूर करने के लिए निमाई का दूसरा विवाह रचने का उपक्रम कर रही थी उन्होंने अपने परिचितों और कुटुम्बजनों से निमाई के लिए एक सुयोग्य कन्या खोजने के लिए कह रखा था। संयोग से उनकी गंगास्नान के समय एक रूपवती कन्या से भेंट हुई। यह कन्या प्रातःकाल गंगास्नान के बाद जब घर वापस जाती तब शची मां के चरण स्पर्श के लिए मार्ग में खड़ी हो जाती और प्रतिदिन अपना प्रणाम निवेदित करती। एक दिन शचो मां ने कन्या मे उसके पिता का नाम पूछा। उसने बताया कि पंडित सनातन मिश्र की बेटी है और उसका नाम विष्णुप्रिया है। शची मा को विष्णुप्रिया उसके रूप, गुण, शील, स्वभाव के कारण अपनी पुत्रवधू बनाने योग्य लगी और उन्होंने सनातन मिश्र के पास अपनी इच्छा का संदेश भिजवा दिया। सनातन पंडित, निमाई से पूर्व परिचित थे। परिवार को भी जानते थे अतः उन्होंने सहर्ष स्वीकृति प्रदान कर दी।

विवाह के कुछ दिन बाद निमाई ने अपने पिता का श्राद्ध करने के लिए गया जाने का प्रस्ताव शची मां के सम्मुख रखा। मां ने सहर्ष अनुमति दे दी और निमाई अपने शिष्यों के साथ गया-यात्रा पर चल पड़े। मार्ग में एक बार ज्वर पीड़ित हुए किन्तु स्वस्थ होने पर उनमें अतीव गांभीर्य आ गया। गया में उन्होंने गदाधर पाद-पद्म के दर्शन किये। पादपद्म के दर्शन से निमाई के शरीर में हर्ष पुलक के साथ रोमांच हो आया। देवयोग से उसी सयम गया में ईवरपुरी का आगमन हुआ। ईश्वर पुरी से गया में ही निमाई ने दशाक्षर मंत्र की दीक्षा ग्रहण की। गया से लौटते समय निमाई को कानाइ-नाटाशाला गांव में मुरली धारण किये श्रीकृष्ण के दर्शन हुए। इस दर्शन से उनकी मनोदशा में विचित्र परिवर्तन आया। यौवन का उद्दाम वेग, पांडित्य और वैदुष्य का विद्या-विलास, विलास-वैभव की मस्ती सब एक साथ तिरोहित हो गई। श्रीकृष्ण के विरह में सतत क्रदन, गायन, कीर्तन ही निमाई की दिनचर्या बन गई। नदिया पहुंचने पर उनके कृष्ण-प्रलाप को सुनकर ईष्यालु लोग उन्हें पागल ठहराने लगे। एक उन्मत्त व्यक्ति की तरह आचरण करने से लोगों को उनके विषय में सन्देह उत्पन्न हो गया। इस सन्देह में स्वयं निमाई ने योग दिया। निमाई ने अपनी पाठशाला में जाकर शिष्यों को व्याकरण के स्थान पर कृष्ण नाम संकीर्तन की विधि बताना शुरू किया। सूत्रों की व्याख्या में कृष्ण के रूप-सौदर्य की झांकी का बखान सुनकर शिष्यगण भी चकित हो गये। उन्होंने गुरु से करबद्ध प्रार्थना की कि कृपया उन्हें व्याकरण शास्त्र पढावें, कृष्ण संकीर्तन तो वे सब बाद में

कर लेंगे। लेकिन निमाई के मन, वचन, कर्म में कृष्ण-कीर्तन इतना गहरा समा गया था कि वह कुछ और करने योग्य ही नहीं थे। उन्होंने अपने शिष्यों से स्नेहपूर्वक कहा...प्रिय शिष्यों, में तुम्हें अब पहले जैसी शिक्षा देने योग्य नही रहा हूं। मेरे पास कृष्ण नाम का स्मरण और संकीर्तन ही शेष है अतः न्याय-व्याकरण आदि पढ़ने के लिए तुम लोग किसी दूसरे गुरु की शरण में जा सकते हो।''

संकीर्तन पद्धति का प्रचलन :

शिष्यों को निमाई की कृष्णनाम-कीर्तन इतना मोहक प्रतीत हुआ कि उन्होंने व्याकरण की पौथी फेंककर संकीर्तन में लीन हो कर परम सुख का लाभ उठाना ही अच्छा समझा। निमाई शान्त-स्निग्ध भाव से प्रतिक्षण कृष्ण-नाम का जाप करते और भावावेश के क्षणों में नीले आकाश की ओर देखकर मंत्र मुग्ध की भांति नृत्य में निमग्न हो जाते। उन्हें अपने चारों ओर के परिवेश का बोध न रहता और घंटों इसी मुद्रा में डूबे 'हरिबोल' का उच्चारण करते रहते। भक्ति का यह आवेश उन्मत्त दशा तक पहुचाने वाला बन जाता और ईर्ष्या-द्वेष रखने वाले सांसारिक जनों को यह बनावटी उन्माद जैसा भाव प्रतित होता। उनके शिष्यों ने सबसे पहले इस संकीर्तन में उनका साथ दिया और भक्ति-क्षेत्र में संकीर्तन की पद्धति का प्रचलन हो गया।

संकीर्तन-पद्धति की विलक्षण भक्ति के प्रचलन से नदिया के पंडितो का भी ध्यान निमाई की ओर गया। कुछ साधु संत भी इस संकीर्तन की ओर आकृष्ट हुए। जिन पांच प्रमुख व्यक्तियों ने इस संकीर्तन को सहर्ष स्वीकार किया उनके नाम हैं, नित्यानन्द निताइ अद्वैताचार्य, श्रीवास, गदाघर पंडित और हरिदास। नित्यानन्द बंगाल में वीरभूमि जिले के निवासी थे। बाल्यावस्था में ही उन्हें उनके पिता ने एक संन्यासी को समर्पित कर दिया था। अवधूत संन्यासी के रूप में उन्होंने बीस वर्ष तक देश का पर्यटन किया था। निमाई की कीर्ति और संकीर्तन पद्धति की भक्ति ने उन्हें निमाई का शिष्य बनाया था। अद्वैताचार्य निमाई से बावन वर्ष बड़े थे। नवद्वीप के वैष्णवों में उनका सर्वोच्च स्थान था। जगत्-कल्याण के लिए वे कृष्ण के आविर्भाव का संकल्प लेकर निरन्तर प्रार्थना में लीन रहते थे। उन्हें निमाई के रूप-सौन्दर्य और शील-स्वभाव में कृष्ण के अवतार का आभास होता था। श्रीवास भी नवद्वीप में विद्याध्ययन के निमित्त आये थे। गदाघर पंडित न्यायशास्त्र में रुचि रखने वाले निमाई के सहाध्यायी विद्यार्थी थे। हरिदास के सम्बन्ध में जनश्रुति है कि वे मुसलमान थे किन्तु अद्वैताचार्य के संपर्क में आने पर उनके शिष्य हो गये और वैष्णवधर्म स्वीकार कर लिया था।

संकीर्तन एवं नृत्य का प्रचार :

निमाई पंडित की भावावेश दशा कुछ इस प्रकार की हो जाती थी कि उन्हें उन्मत्त

भी समझ लिया जाता था किन्तु वास्तव में उनका उन्माद भक्ति की प्रबल मनोदशा की स्थिति का भावावेश था। इस भावावेश में निमाई नृत्य और संगीत का भी प्रयोग करते थे। नृत्य और संगीत के साथ संकीर्तन, कृष्ण नाम कीर्तन, ही उनका साध्य और साधन था। इस संकीर्तन शैली की भक्ति का प्रचार करते समय मौनजाप शैली को निमाई ने स्वीकार नहीं किया। जप की परम्मरागत शैली को छोड़कर सामूहिक कीर्तन पद्धति के प्रयोग से यह अत्यन्त लोकप्रिय कृष्ण भक्ति बन गई। अपने शिष्यों को उन्होंने नदिया से बाहर बंगदेश के अन्य नगरों में भेजकर संकीर्तन का प्रचार किया। नित्यानन्द, हरिदास आदि शिष्यों ने इस कृष्ण-कीर्तन का प्रचार किया। श्रीवास के निवास स्थान पर निमाई ने स्वयं कीर्तन का दैनिक आयोजन किया। अपने इस संकीर्तन में निमाई ने स्वयं अपने भौतिक शरीर में श्रीकृष्ण के लीलारूप को देखकर निमाई को कृष्ण का अवतार स्वीकार कर लिया। इस संकीर्तन में निमाई को दो प्रकार के आवेश मूर्च्छित करते थे। भगवत् आवेश आने पर निमाई श्रीकृष्ण की लीलाओं में निमग्न होकर भक्तों की इच्छापूर्ति करते। भक्तों को उस समय यही लगता कि साक्षात् श्रीकृष्ण ही उन्हें दर्शन देकर प्रसन्न कर रहे हैं। भक्त-आवेश में निमाई सामान्य श्रीकृष्ण भक्त के समान आचरण-व्यवहार करते और दैन्य-कार्पव्य की भावना से वैष्णवजन के प्रति आदर-सम्मान का भाव प्रकट करते। इस व्यवहार में जाति, कुल, वंश, पद आदि का उन्हें ध्यान नहीं रहता था। वैष्णवमात्र को स्नेहादरपूर्वक पूज्य बुद्धि से देखना ही उनका धर्म हो जाता था।

संकीर्तन के अवरोधों पर विजय :

अपनी संकीर्तन-भक्ति के प्रचार के लिए सामूहिक सत्संग का श्रीवास के निवास स्थान पर उन्होंने प्रबंध किया था। जिस प्रकार श्रीकृष्ण की अष्टयाम सेवा वैष्णव भक्तों में प्रचलित है उसी प्रकार संकीर्तन का भी अहोरात्र आयोजन होता और नगर निवासी इस संकीर्तन में शामिल होकर नृत्य, संगीत और कृष्ण नाम कीर्तन का आनन्द उठाते। रात्रि के समय होने वाले सामूहिक संकीर्तन से भक्तजन को तो शान्ति प्राप्त होती किन्तु नास्तिक जन की नींद में खलल पड़ता और वे इस कीर्तन से कुद्ध होकर इसे बन्द कराने के प्रयास में जुटे रहते। कुछ ऐसे लोग थे जो उपासना के लिए एकान्त साधना में विश्वास करते थे। श्रीकृष्ण की भक्ति के लिए किसी प्रकार का शोर-शराबा उन्हें पसन्द न था। अतः ईश्वर में आस्था रखने पर भी कीर्तन शैली के वे लोग विरुद्ध थे। कुछ ऐसे लोग भी थे जो निमाई की लोकप्रियता से ईर्ष्याभाव रखते थे। वे नहीं चाहते थे कि नदिया के पंडित समाज में निमाई की परमभक्त के रूप में प्रतिष्ठा हो। इसलिए इन लोगों ने मिलकर नगर के शासक काजी से निमाई की शिकायत की और उसे बताया कि संकीर्तन की यह पद्धति हिन्दू धर्म के विरुद्ध है अतः इसे बन्द कराना चाहिए। काजी को बात जंच गई और उसने

अपने सिपाहियों को आदेश दिया कि नगर में कहीं भी नृत्य, गान, कीर्तन आदि देखें तो उनके साज-समाज छीन कर कीर्तननियों को बन्दी बना लें। सिपाहियों ने आज्ञा का पालन किया और कीर्तन करने वालों को तंग करना शुरू कर दिया। नगर में काजी का आतंक छा गया। कीर्तन गायन बन्द हो गये।

चांद काजी का संकीर्तन प्रेम :

निमाई को जब इस निषेधाज्ञा का पता चला तो उन्होंने नगर वासियों से कहा कि सब लोग मशाल लेकर एक स्थान पर इकट्ठे हो जाएं। मैं उस स्थान से कीर्तन प्रारंभ करुंगा। भक्त जनों के एकत्र होने पर निमाई वस्त्राभरण से सुसज्जित होकर कीर्तन मंडली का नेतृत्व करते हुए नदिया के राजमार्ग से कीर्तन करते हुए बड़ी धूमधाम के साथ निर्भय भाव से चले। काजी के सिपाही इस कीर्तन मंडली को बन्दी बनाने के लिए पहले से ही तैयार थे। लेकिन ज्यों ही कीर्तन मंडली और उसके नेता निमाई पंडित के सामने आये सब उनके रूप सौन्दर्य पर मुग्ध होकर उन्हें देखते रहे और कीर्तन का आनन्द उठाने लगे। सम्मोहन का ऐसा जादू उन पर छाया कि उन्हें यह ध्यान नहीं रहा कि काजी मियां ने उन्हें किस काम के लिए राजमार्ग पर तैनात किया है। चांद काजी भी इस मनमोहक कीर्तन दृश्य को देखने आया और मंत्रमुग्ध तरह सब कुछ भूलकर कीर्तन के स्वरों में खो गया। निमाई पंडित का रूप-सौंदर्य उसे इतना आकर्षक और लुभावना लगा कि उसे यह ध्यान ही नहीं रहा कि वह किस धर्म का है, किस जाति का है और किस पद पर आसीन है। चांद काजी ने निमाई पंडित से क्षमा याचना करते हुए कहा कि मैं आपकी भक्ति को गलत समझा था। वास्तव में यह तो सम्मोहक भक्ति है। इसमें डूबकर दुनिया के दुख द्वन्द की मनुष्य को सुध ही नहीं रहती। मैं इस भक्ति के प्रचार में योग दूंगा और इसमें कोई बाधा उपस्थित नहीं करूंगा। कहा जाता है कि आज पांच सौ वर्ष बाद भी चांद काजी के वंशज वैष्णवों के इस कृष्ण कीर्तन में सहयोग देते हैं और चांदकाजी की समाधि को वैष्णव जन पवित्र मानते और उसकी रक्षा करते हैं। निमाई ने संकीर्तन की इस नवीन भक्ति को जन्म देकर समस्त मानव मात्र के लिए सुलभ बना दिया। भगवत् प्रेम जिस भक्ति के मूल में होता है वह द्रेश, काल, जाति और धर्म की सीमाओं का अतिक्रमण कर सार्वकालिक और सार्वदैशिक बन जाती है। यह भगवत् प्रेम की अपराजेय असीम शक्ति का प्रताप है। अपनी इस कृष्ण भक्ति को समस्त मानवजाति के लिए सुलभ बनाने की इच्छा से निमाई का मन सांसारिक सम्बन्धों से मुक्त होकर संन्यास आश्रम में प्रवेश के लिए उत्सुक हो उठा। उन्होंने अपनी यह इच्छा अपनी माता शची के सम्मुख रखी। उनकी पत्नी विष्णुप्रिया सन्यास में बाधक हो सकती है यह निमाई को विदित था किन्तु लोक कल्याण की कामना सुख से बढ़कर होती है अतः निमाई ने लोक कल्याण कामना से संन्यास लेना ही उचित समझा।

संन्यास और लोक कल्याण :

निमाई पंडित के विलक्षण आवेश पूर्ण कार्यों से भक्त जन तो उन्हें श्रीकृष्णं का अवतार मानकर पूजने लगे किन्तु पांडित्य का अभिमान करते वाले दर्पोद्धत लोगों को निमाई की स्तुति-प्रशंसा खलने लगी। निमाई के भौतिक वैभव, मान-सम्मान, कीर्ति-प्रतिष्ठा आदि से उनके भीतर जो निम्नस्तरीय भाव उत्पन्न हुए थे उनके परिष्कार के लिए ही निमाई ने संन्यासी होकर परिव्राजक का रूप धारण करना उचित समझा था, लेकिन संन्यास-मार्ग में दो बाधाएं स्पष्ट थीं। शची मां के भरण-पोषण और देखरेख की व्यवस्था और पत्नी विष्णुप्रिया की स्नेहसिक्त भावनाओं को परितुष्ट करना। शची मां पुत्र के लोक कल्याण के लिए सन्यासी होने की बात से धैर्य धारण कर सकी किन्तु नवयुवती विष्णुप्रिया अपने पति को विरक्त संन्यासी के रूप में कैसे सहन कर सकती थी। विष्णुप्रिया के पति निमाई या विश्वम्भर से गौरांग महाप्रभु, चैतन्य महाप्रभु और गौड़ेश्वर भगवान् तो बन गये किन्तु विष्णुप्रिया को इस रूप-नाम परिवर्तन से क्या मिला।

विष्णप्रिया निमाई पंडित की दूसरी पत्नी थी। सर्वगुण सम्पन्न, अनिंद्य सुन्दरी, पतिपरायणा, सती, साध्वी महिला थी। निमाई की वैराग्य भावना ने इस नारी के सारे जीवन-स्वप्न नष्ट कर दिये। पति के सन्यास-मार्ग पर जाने के निश्चय ने विष्णुप्रिया के जीवन को घोर नैराश्य, पीड़ा और अवसाद से भर दिया। निमाई ने तो परिव्राजक का धर्म-स्वीकार कर लोक कल्याण का मार्ग अपना लिया किन्तु विष्णुप्रिया क्या करे ! उसने अपने पति से बड़े अनुमय विनय भरे शब्दों में निवेदन किया, आप मेरे पति ही नहीं, प्रभु भी हैं। वैसे ही जैसे लक्ष्मी के पति विष्णु भगवान् हैं, पार्वती के शिव हैं, शची के इन्द्र हैं। मैंने अग्नि को साक्षी कर, देवी-देवताओं को मन में आमंत्रित कर यज्ञ की वेदी पर आपके साथ आजीवन रहने के वचन भरे हैं। अतः मुझे सभी स्थितियों में आपके साथ रहने का पूर्णाधिकार है।

निमाई पंडित इस प्रार्थना का क्या उत्तर देते ! उन्होंने केवल सन्यासी के धर्म का स्मरण कराते हुए विष्णुप्रिया से कहा कि मैं अब किसी परिवार या किसी व्यक्ति विशेष का सम्बन्धी-हितैषी न होकर लोक-कल्याण के लिए विचरण करने वाला संन्यासी हूं। समस्त विश्व मेरा घर है और समस्त मानव मेरे पारिवारिकजन हैं। मै तुम्हे यही उपदेश देता हूं कि तुम लोक कल्याण मार्ग के पथिक को ऐसी शक्ति दो कि वह किसी संकीर्तन मोह-ममता में न फंसे। विष्णुप्रिया पति के इस दृढ़ निश्चय के भीतर छिपे मानव हित को पहचान गई और उसने भारतीय नारी के उदात्त आदर्श का उदाहरण प्रस्तुत किया। उसने अपने व्यक्तिगत सुख को तिलांजलि देकर कोटि-कोटि मानवों के उद्धार के लिए कृत-संकल्प अपने पति को संन्यास लेने की सहर्ष अनुमति दे दी। पति को परमेश्वर मानने वाली विष्णप्रिया ने निमाई पंडित में साक्षात् कृष्ण भगवान् के दर्शन किये। अपने भीतर व्याप्त क्रन्दन और

दारुण रुदन को बड़ी शान्ति और सहजता से सहन किया। भारतीय नारी के त्याग, तपस्या, धैर्य तितिक्षा और आत्मोत्सर्ग की प्रतिमा विष्णुप्रिया चैतन्य की साधना की एक प्रच्छन्न शक्ति के रूप में सदैव स्मरण की जाती रहेगी।

निमाई पंडित ने सन् १५१० ई. में २४ वर्ष की आयु में केशव भारती नाम के साधु से संन्यास की दीक्षा ग्रहण की। इस दीक्षा के बाद विश्वम्भर या निमाई नाम का परित्याग कर कृष्ण चैतन्य नाम धारण किया। चैतन्य नाम की सार्थकता इसी में है कि कृष्ण भक्ति की परिपूर्ण चेतना से जिसका तन-मन पूरी तरह प्रभावित हो गया हो वह 'कृष्ण चैतन्य' नाम का अधिकारी माना जाएगा। केशव भारती कृष्णभक्त वैष्णव न होकर अद्वैतवादी संन्यासी थे किन्तु अपने सदाचरण और वैदुष्य के कारण समाज में समादृत थे। इन्ही गुणों से प्रभावित होकर चैतन्य ने उनसे संन्यास की दीक्षा ग्रहण की थी।

पुरी-यात्रा का प्रसंग :

संन्यास ग्रहण करने के बाद चैतन्य अपने घर नहीं जा सकते थे। संन्यासी का कोई एक घर नहीं होता। एक ठिकाना भी वह नहीं बनाता। संन्यासी तो परिव्राजक होता है। सारा विश्व उसका घर और सारी वसुधा उसका कुटुम्ब होता है। चैतन्य अपने भक्त गोबिन्द को लेकर नदिया से बाहर निकले और हाजीपुर, मिदनापुर होते हुए नयनगढ़ पहुंचे। नयनगढ़ के समीप ढलेश्वर के शिवजी मन्दिर में चैतन्य ने अपने उपदेश-प्रवचन का सिलसिला शुरू किया। यह उपदेश उस नगर के निवासियों के लिए चौकाने वाला था। क्योंकि उस समय वहां के दूषित वातावरण में प्रेम, श्रद्धा, भक्ति आदि उदात्त भावों के लिए कोई स्थान नहीं था। श्री चैतन्य के भक्ति-प्रेम-प्लावित वचनों से वहां की जनता आनन्द विभोर हो उठी। उसके भीतर आशा, उल्लास, आनन्द और जीवनेच्छा की उमंग पैदा हुई। जिस नगर में सदाचार और सदाशयता के लिए कोई स्थान नहीं था वहां चैतन्य के आगमन से लोक चेतना की नई लहर फैल गई। जीवन के शाश्वत मूल्यों के प्रति जन-मानस आकृष्ट हुआ और असंगतियों का सिलसिला टूटने लगा।

इस लम्बी यात्रा में चैतन्य ने अनेक स्थानों पर पड़ाव डाला और अपनी भक्ति-पद्धति कीर्तन-गायन आदि से जनता को कृष्णभक्ति का पथ दिखाया। यात्रा से बढ़ते हुए चैतन्य आथरनला नामक स्थान पर पहुंचे। इस स्थान में जगन्नाथ मन्दिर का लहराता हुआ ध्वज दिखाई देता था। जगन्नाथ मन्दिर के ध्वज को देखकर चैतन्य के भीतर भक्ति का प्रबल आवेश उठ खड़ा हुआ और वे उन्मत की भांति आकाश में हाथ उठाकर 'हरिबोल' के साथ नृत्य-गायन में पूरी तरह से सराबोर हो गये। वे भूल गये कि यह कौन सा स्थान है, कौन सा परिकर साथ है, क्या समय है और किन मुद्राओं में वे नृत्य कर रहे हैं। कुछ दर्शकों ने उन्हें पागल

समझ लिया। मन्दिर के पंडे-पुजारी उन्हें मारने-पीटने लगे किन्तु चैतन्य ने इसका कोई प्रतिरोध नहीं किया। वास्तव में उनकी बाह्य-चेतना काम नहीं कर रही थी। वे अविरल अश्रु प्रवाह के साथ हरिनाम का उच्चार कर रहे थे। उस घटना की चर्चा मन्दिर के परिसर में दूर-दूर तक फैल गई। संयोग से वहा अद्वैत वेदान्त के ज्ञाता वासुदेव सार्वभौम नामक पंडित ठहरे हुए थे। उनके साथ उड़ीसा के राजा भी थे। जब इन दोनों महानुभावों ने चैतन्य की विलक्षण दशा और पंडे-पुजारियों के अभद्र व्यवहार की बात सुनी तो वे चैतन्य को अपने यहां ले गये।

पंडित वासुदेव सार्वभौम ने चैतन्य के अद्वैत वेदान्त पढ़ाना शुरू किया। बड़े मनोयोग से वे पढ़ते रहे। पढ़ते समय कभी शंका-संदेहात्मक जिज्ञासा प्रस्तुत नहीं की। सार्वभौम ने एक दिन मौन अध्ययन का कारण पूछा तो बड़ी सहजता और निर्भीकता से चैतन्य ने कह दिया कि आप शांकरभाष्य को प्रमाण मानकर सूत्रों की व्याख्या करते हैं। यह व्याख्या मुझे मान्य नहीं है। चैतन्य ने पुराणों के प्रमाण से सार्वभौम की व्याख्या का खंडन किया। अद्वैतवाद का जिस शैली से चैतन्य ने निरसन किया वह अद्‌भुत शैली थी। सार्वभौम उसे सुनकर स्तब्ध और चकित थे। चैतन्य की मुखमुद्रा भी दिव्य शक्ति सम्पन्न हो गई थी जिसे देखकर सार्वभौम जैसे वयोवृद्ध विद्वान पंडित भी उनके आगे नतशिर हो गये। कहते हैं कि उन्होंने तत्काल 'गोरांगाष्टक' शीर्षक काव्य लिखकर चैतन्य की स्तुति की।

महाराजा प्रतापरुद्र देव का शिष्यत्व ग्रहण :

पंडित सार्वभौम के मुख से चैतन्य की चमत्कारी यशगाथा सुनकर उड़ीसा के राजा प्रताप रुद्रदेव ने भी चैतन्य के दर्शन की इच्छा व्यक्त की। संदेशवाहक से चैतन्य ने स्पष्ट शब्दों में कह दिया कि मैं संन्यासी हूं, राजा-महाराजा के आगे-विलास पूर्ण वैभवमय जीवन से मेरा कोई सरोकार नहीं है। मै राजा के पास नहीं जा सकता। उन दिनों चैतन्य महाप्रभु काशी मिश्र के घर पर रहकर संकीर्तन करते थे। राजा प्रतापरुद्र देव को इन्हीं के निवास पर छिपकर संकीर्तन में लीन चैतन्य के दर्शन का सौभाग्य प्राप्त हुआ। इस संकीर्तन के नृत्य, गायन आदि को देखकर प्रतापरुद्र को इसमें अलौकिकता का आभास हुआ। उन्होंने गौपीनाथ से कहा कि यह कीर्तन-भजन दिव्य है, इसमें लौकिकतत्त्व नहीं है। चैतन्यदेव भी दिव्य विभूति हैं। साक्षात् कृष्णावतार ही हैं। प्रतापरुद्रदेव ने चैतन्यदेव के परोक्ष दर्शन से जो प्रत्यक्षानुभूति की वह उसके जीवन में विराट् परिवर्तन का कारण हुई। उसे यह प्रतीत होने लगा कि राजपाट के वैभव ने मुझे उस दिव्य शक्ति से दूर रखा है जो मेरी समस्त चेतना को झंकृत कर आनन्द के पारावार में निमज्जित करने वाली है। इसलिए यही अच्छा है कि मै इस राजसी वैभव से अपने को मुक्त कर लूं। राजा द्रवित मन से चैतन्य महाप्रभु की शरण में गये उनके चरणों में लोटकर निवेदन किया कि मुझे अपनी शरण में लेकर मेरा भी जीवन सफल करें। चैतन्यदेव ने सहर्ष

प्रतापरुद्र को अपने आलिंगन में बांध कर अपना शिष्य बना लिया। इसकें बाद प्रतारुद्रदेव सामान्यजन की भांति चैतन्य की कीर्तन मंडली के सदस्य बन गये और संकीर्तनों में सम्मिलित होने लगे।

पुरी की यात्रा के समय रथयात्रा के उत्सव में चैतन्य भी पहली बार शामिल हुए, अपनी कीर्तन मंडली को उस रथोत्सव में अग्रिम पंक्ति में रखकर नृत्य गायन आदि द्वारा दर्शकों के मन को मोहित करते रहे। इस रथयात्रा को पुरी निवासी कभी विस्मृत नहीं कर सके। पुरी प्रवास के समय छोट-मोटी ऐसी घटनाएं भी होती रहीं जो चैतन्य को अपने संन्यास वेष का अनुरूप नहीं लगी। उन्होंने कई बार पुरी छोड़कर अन्यत्र जाने की इच्छा व्यक्त की किन्तु भक्त मंडली ने उन्हें जाने नहीं दिया। चैतन्य का मन दक्षिण देश की यात्रा के लिए व्याकुल हो रहा था अतः उन्होंने पुरी से दक्षिण देश की यात्रा के लिए प्रस्थान किया।

दक्षिण देश की यात्रा :

श्री चैतन्य की दक्षिण यात्रा का वर्णन चैतन्य चरितामृत तथा कई अन्य ग्रंथों में विस्तार से मिलता है। इस वर्णन को पढ़कर आश्चर्य होता है कि यात्रा के साधनों के अभाव में भी संन्यासी चैतन्य ने इतने सुदूर देश की यात्रा किस प्रकार निर्विध्न सम्पन्न की। तुंगभद्रा के तट पर उनका एक दंभी साधु के साथ शास्त्रार्थ हुआ। पुस्तकीय ज्ञान का अभिमान करने वाला दंभी साधु चैतन्य के प्रेम-प्रवचन से ऐसा प्रभावित हुआ कि उनके चरणों में गिर अपने बुद्धि विलास के लिए क्षमा मांगकर शिष्य बन गया। इस यात्रा में चैतन्य महाप्रभु कन्याकुमारी तक गये। वहां लम्बी पैदल यात्रा के समय खान पान की कोई व्यवस्था न होने से साथ के संन्यासियों को कष्ट का अनुभव हुआ किन्तु चैतन्य महाप्रभु अपने नाम संकीर्तन में सब कुछ भूले रहे। कन्या कुमारी के बाद वे तिरुवांकुर पहुंचे। वहां से मत्स्यतीर्थ, कचारा, सत्यगिरि होते हुए चंडीपुर में पड़ाव डाला। चैतन्य देव ने अपनी विलक्षण प्रतिभा से दक्षिण प्रदेश की तमिल, मलयालम आदि भाषाओं पर भी इस यात्रा में अधिकार प्राप्त कर लिया था अतः उन्हें किसी दुभाषिये की आवश्यकता नहीं पड़ी। व्याकंरण और भाषा शास्त्र का ज्ञान इस यात्रा में उनका सहायक सिद्ध हुआ।

दक्षिण की यात्रा में चैतन्य देव की दो विशिष्ट व्यक्तियों से भेंट हुई। पहले व्यक्ति ये राजमुंदरी के राज्यपाल राय रामानन्द। राय रामानन्द उच्चकोटि के भक्त तथ शास्त्र निष्णात व्यक्ति थे। चैतन्य से भेंट होने के बाद उनके परमभक्त हो गये और अन्त समय तक चैतन्य के साथ रहे। रामानन्द राय ने चैतन्य मत को सर्वतंत्र स्वतंत्र मत कहा है और चैतन्य के सान्निध्य में रहकर उनके सिद्धान्तों पर प्रकाश डाला है। वेंकटभट्ट दूसरे व्यक्ति थे जो चैतन्य के संपर्क में आये और चैतन्य मत के प्रचार के योग दिया। ऐसी जनश्रुति है कि चैतन्य की दक्षिण यात्रा का प्रभाव कर्नाटक पर अधिक पडा और कालान्तर में उनका वैष्णव धर्म कर्नाटक का राज्यधर्म बन गया

था। ऐसी भी प्रसिद्धि है कि दक्षिण यात्रा से लौटते समय चैतन्य महाप्रभु वहां से ब्रह्म संहिता तथा विल्वमंगल के कृष्ण कर्णमृत की प्रतियां साथ लाये थे और उन्हें वे अमूल्य निधि की भांति सदैव अपने पास रखते थे।

दक्षिण यात्र के मार्ग का जो विवरण चैतन्य विषयक प्राचीन और नवीन पुस्तकों में मिलता है उसमें एकमत्य नहीं है। ऐसे प्रमाण भी मिलते हैं कि चैतन्य देव दक्षिण यात्रा पूरी कर महाराष्ट्र गये। महाराष्ट्र में संस्कृत ज्ञान की नगरी पुणे में भी उन लोगों से मिले जो वैष्णव धर्म में आस्था रखते थे। पुणे में एक विचित्र घटना घटी। पुणे में एक सुन्दर कृत्रिम झील के किनारे वकुल वृक्ष की छाया में उन्होंने डेरा डाला था। चैतन्य अपने आवेश के क्षणें में उन्मत की भांति अपने आराध्य को नामोच्चार के साथ पुकारते और भाव विह्वह होकर नीलाकाश में हाथ उठाकर कृष्ण-कृष्ण की रट लगाने लगते। यह विचित्र दृश्य दर्शकों के लिए मनोरंजन होने के साथ उत्सुकता वर्धक भी था। एक दिन एक परिहास प्रिय व्यक्ति ने चैतन्य का ध्यान आकृष्ट करते हुए कहा, देखो !वह रहा तुम्हारा प्यारा कृष्ण-कन्हैया, वह झील में तैर रहा है। चैतन्य भक्ति के उद्दाम आवेश में थे। परिहास पर उन्होंने ध्यान नहीं दिया और तत्काल झील में कूद पड़े। पानी में डुबकी लगाते समय भी कीर्तन की मुद्रा में कृष्ण नाम की रट लगाते रहे। जब बेहोश होकर पानी में डूबने लगे तब किनारे पर खड़े तैराक लोगों ने झील में छलांग लगाकर उन्हें बाहर निकाला। परिहास करने वाले व्यक्ति को लोगों ने डांटना-फटकारना शुरू किया तो चैतन्य ने उन्हें शान्त करते हुए कहा, उस व्यक्ति का कोई अपराध नहीं है। कृष्ण तो जल, थल, आकाश, पर्वत सब जगह हैं। उसे झील के जल में दिखाई दिये तो इसमें उसका दोष क्या है?

महाराष्ट्र के बाद चैतन्य देव ने गुजरात की यात्रा का कार्यक्रम बनाया। अहमदाबाद से द्वारका, सौमनाथ, जूनागढ़ प्रभास क्षेत्र की यात्रा पर गये। इन सभी स्थानों पर उन्हें अपने इष्टदेव की मोहक छवि के दर्शन हुए। इस यात्रा की समाप्ति पर चैतन्य पुरी वापस आ गये। उनके मन में जन साधारण को भक्ति का संदेश देने की इच्छा और प्रबल हो उठी **चैतन्य चाहते थे कि हिन्दू समाज में जात-पांत, ऊंच-नीच, का जो भेद है वह समाप्त हो और मानव मात्र में समता और भक्ति का प्रचार हो।** इस कार्य के लिए उन्होंने अपने पुराने साथी नित्यानन्द और अद्वैताचार्य को गौड़ देश जाकर भक्ति मार्ग के प्रचार के लिए भेजा। नित्यानन्द के चरित्र में वह शक्ति थी जो अधर्म मार्ग पर चलने वालों को सद्धर्म की ओर ला सकती थी। नित्यानन्द को चैतन्य ने संन्यास आश्रम से विमुक्त कर पुनः गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट होने का आदेश दिया। यद्यपि शास्त्र की दृष्टि से एक संन्यासी का पुनः गृहस्थाश्रम में लौटना अनुचित है फिर भी लोकमंगल के लिए इस आपद्धर्म को नित्यानन्द ने स्वीकार किया। गार्हस्थधर्म की महिमा सिद्ध करने

में भी इस आश्रम परिवर्तन ने योग दिया। चैतन्य ने नित्यानन्द से स्पष्ट शब्दों में कह दिया था कि भगवद्भक्त श्वपच उस महापंडित ब्राह्मण से श्रेष्ठ है जो केवल पुस्तकीय ज्ञान से आधार पर ईश्वर की चर्चा तो करते हैं किन्तु ईश्वर पर विश्वास नहीं करते। ईश्वर के दरबार में जाति, कुल, वंश, पद आदि का कोई विचार नहीं होता। ईश्वर सच्ची भक्ति और प्रेम को ही स्वीकार करते हैं। नित्यानन्द ने इस लोकसंग्रही भाव को भलीभांति समझ लिया था और बंगदेश में घूम-घूम कर इस भावना का प्रचार किया। समाज के दलित वर्ग के उत्थान में नित्यानन्द का योगदन उल्लेखनीय है।

सनातन गोस्वामी तथा रूपगोस्वामी से भेंट :

श्री चैतन्य ने नित्यानन्द (निताई) और अद्वैताचार्य को गौड़देश में प्रेमाभक्ति के प्रचार के लिए भेजकर स्वयं वहा की दशा को जानने के लिए गौड़ देश जाने का निश्चय किया। गौड़ देश से नदिया भी जाना चाहते थे। यह उनकी अन्तिम नदिया यात्रा थी। उनका मन पुरी प्रवास और दक्षिण देश गुजरात की यात्रा के बाद वृन्दावन यात्रा के लिए उत्सुक था। गौड़ देश की यात्रा में कई उल्लेखनीय घटनाएं हुईं जिनका प्रभाव जन-साधारण पर कई रूपों में पड़ा। गौड़ देश के मुस्लिम शासक हुसैन शाह के मंत्रियों में दो ब्राह्मण भी थे जिन्हें दरबार में मुस्लिम वेषभूषा में रहना पड़ता था। हुसैन शाह ने उनके काम ने अनुरूप उनके नामों में भी परिवर्तन कर दिया था। जो मुख्य मंत्री का काम देखता था वह 'साकर मल्लिक' और जो निजी सचिव था वह 'दबीर खास' नाम से जाना जाता था। इन दोनों व्यक्तियों के संस्कार वैष्णव परम्परा के थे और संस्कृत साहित्य का इन्हें गहरा ज्ञान था। मुस्लिम शासक के संपर्क के कारण इनके रहन सहन में मुसलमानी छाप अवश्य आ गई थी किंतु मन-वचन से ये दोनों ब्राह्मण परम्परा के ही थे। श्री चैतन्य देव गौड़ देश की यात्रा करते हुए जब रामकैलि नामक स्थान पर पहुंचे तो दोनो भाइयों की उनसे भेंट हुई। भेंट-वार्ता में साहित्य, काव्य, शास्त्र आदि विषयों की चर्चा के उपरान्त भक्ति पर भी विचार-विमर्श हुआ। चैतन्य के भक्ति विषयक विचारों को सुन कर दोनों भाइयों को लगा कि यह व्यक्ति सामान्य मनुष्य न होकर अवश्य ही कोई दिव्य पुरुष है। जिसने मनुष्य के रूप में जीवोद्धार के लिए इस भूमि पर अवतार लिया है। चैतन्य के वार्तालाप से उन दोनो भाइयों के जीवन में विराट् परिवर्तन आ गया और उन्होंने मुस्लिम शासक की नौकरी से त्यागपत्र देकर चैतन्य का शिष्यत्त्व स्वीकार कर लिया। चैतन्य महाप्रभु ने इनकी धर्मनिष्ठा और साहित्यानुराग को देखकर इनके नाम बदल दिये। साकर मल्लिक का नाम सनातन गोस्वामी और दबीर खास का नाम रूपगोस्वामी कर दिया। रूपगोस्वामी की आयु उस समय केवल सत्ताइस वर्ष की थी किन्तु उनके भीतर वैराग्य भावना का प्रबल ज्वार उठा

और वे अपनी धन-सम्पत्ति को दान करके भिखारी के रूप में घर से निकल पड़े।

रूपगोस्वामी के गृहत्याग के बाद सनातन गोस्वामी के हृदय में भी विरक्त होकर चैतन्य की शरण में जाने का विचार हुआ। फलतः सनातन गोस्वामी भी विघ्न-बाधाओं को पारकर संन्यासी के रूप में घर से निकल आये। इन दोनें गोस्वामियों को बाद में श्री चैतन्य ने भक्ति सिद्धान्त विषयक ग्रंथ प्रणयन के लिए वृंदावन भेजा। वृन्दावन जाकार इन्होंने हरिभक्तिरसामृतसिंदु और उज्ज्वलनीलमणि नामक दो उच्चकोटि के भक्ति विषय ग्रंथ लिखे। वृन्दावन में भक्ति-प्रचार के लिए चैतन्य ने जिन षट् गोस्वामियों को भेजा था उनमें ये दोनों प्रमुख थे। जीव गोस्वामी इसके भतीजे थे उन्होंने भक्ति विषयक षट् संदर्भ लिखे थे।

नित्यानन्द और हरिदास जब गौड़देश में चैतन्य की भक्ति भावना का प्रचार करने आये थे तब उनकी दो लम्पट व्यक्तियों से भेंट हुई। जगन्नाथ (जगाई) और माधव (मधाई) नाम के दो कुसंस्कारी युवक नदिया में अपनी स्वैच्छाचारिता के लिए बदनाम थे। भोली जनता को डरा-धमका कर ये दोनों लूटपाट और अत्याचार करने से डरते नहीं थे। इन दोनों को सदाचार का मार्ग दिखाने से नित्यानन्द को जिस पद्धति से सफलता मिली वह पद्धति और कुछ नहीं कृष्णनाम कीर्तन की शिक्षा ही थी। जगाई-माथाई के हाथों नित्यानन्द और हरिदास को यातना तो सहनी पड़ी किन्तु अन्त में विजय सत्य की ही हुई और दोनों उद्दंड युवक चैतन्य की भक्ति को स्वीकार कर शुद्ध आचरण वाले साधु स्वभाव बन गये। ये सब परिवर्तन चैतन्य की ख्याति, कीर्ति और प्रतिष्ठा के परिचायक है।

वृन्दावन यात्रा और पथभ्रष्टों को धर्मोपदेश :

पुरी में पांच वर्ष व्यतीत हो जाने पर चैतन्य महाप्रभु की इच्छा वृन्दावन जाने की हुई। इस यात्रा का कार्यक्रम उन्होंने एक बार पहले भी बनाया था किन्तु दक्षिण देश, महाराष्ट्र और गुजरात चले जाने से वहां न जा सकें थे। वृन्दावन की भौगोलिक स्थिति को समझने के लिए उन्होंने साथी लोकनाथ आचार्य को पहले ही वृन्दावन भेज दिया था। लोकनाथ आचार्य ने वृन्दावन की श्रीकृष्ण लीला स्थलियों का पता लगा लिया था। वृन्दावन यात्रा का मार्ग दुर्गम था। मार्ग में लुटेरे-डाकू यात्रियों को लूटने और मार डालते थे। इसलिए मार्ग की सुरक्षा के लिए राजा प्रतापरुद्र ने सारी व्यवस्था कर दी और चैतन्य महाप्रभु अपने यात्रा-पथ पर अग्रसर हुए किन्तु वृन्दावन की स्थिति से परिचित रूप-सनातन ने उन्हें वृन्दावन जाने से उस समय रोका और पुरी वापस भेज दिया। वापस लौटते समय चैतन्य महाप्रभु असम की ओर चले गये और वहां एक पर्वतीय कन्दरा में कुछ समय तक रहे। आज इस कन्दरा को चैतन्य गुफा नाम से जाना जाता है।

वृन्दावन यात्रा की प्रबल इच्छा अभी चैतन्य के मन में पूर्ववत् जीवित थी अतः

कुछ समय बाद उन्होंने बलभद्र भट्टाचार्य तथा एक सेवक को साथ लेकर यात्रा प्रारंभ की। इस शिष्य मंडली को बिना बताए चुपचाप झारखंड के सघन वनमार्ग से निकले। वाराणसी में रघुनाथ भट्ट से भेंट हुई जो बाद में वृन्दावन के षड् गोस्वामियों के चैतन्य मत के प्रचारक बने। वाराणसी से प्रयाग और प्रयाग से वृन्दावन का मार्ग पकड़कर बिना कहीं रुके वृन्दावन पहुंचे। वृन्दावन पहुंचते ही उनका भक्ति का आवेश प्रबल हो उठा और वे कृष्ण कीर्तन की मुद्रा में नृत्य में निमग्न हो गये। श्रीकृष्ण की लीला स्थलियों के दर्शन करते हुए तथा उन्हीं कृष्ण लीलाओं को स्वयं चरितार्थ करते हुए वृन्दावन की रम्य स्थली में विहार करते रहे। चैतन्य चरितामृत में वृन्दावन-विहार का सविस्तार वर्णन मिलता है जिसमें कुछ चमत्कारों का भी उल्लेख है।.

वृन्दावन में कुछ समय ठहर कर चैतन्य ने पुनः बंगाल होते हुए पुरी जाने का निश्चय किया। जिस समय चैतन्य महाप्रभु वृन्दावन से प्रयाग होते हुए वापस आ रहे थे उस समय प्रयाग में कुंभ पर्व चल रहा था। इस महापर्व के अवसर पर सुदूर देशों से भक्तगण संगम तीर्थ में स्नान करने प्रयाग आते हैं। वहां चैतन्य की बल्लभट्ट, रूप, सनातन आदि से भेंट हुई। शाकर मत के ज्ञाता मायावादी प्रकाशानन्द सरस्वती से काशी में चैतन्य की शास्त्रार्थ भी हुआ और उन्हें परास्त कर चैतन्य ने भक्तिपथ पर आरूढ़ किया। प्रकाशानन्द का नाम भी प्रबोधानन्द रखा और प्रबोधानन्द को भक्ति मार्ग पर आरूढ़ किया। प्रबोधानन्द ने भक्ति मार्ग पर आरूढ़ होकर कई सुंदर ग्रंथों की रचना की। प्रकाशानन्द सरस्वती ही प्रबोधानन्द है, इस पर कुछ विद्वानों के मतभेद हैं किन्तु परम्परा और ग्रंथ-प्रमाण यही बताते हैं कि वैष्णव भक्ति पथ स्वीकार कर प्रकाशानन्द ही प्रबोधानन्द बने थे।

पुरी में स्थायी निवास :

वृन्दावन की यात्रा सम्पन्न कर श्री चैतन्य महाप्रभु सन् १५१६ में पुरी वापस आये। संन्यास-दीक्षा के बाद छह वर्ष तक चैतन्य देशाटन में व्यस्त रहे। यह देशाटन सोद्देश्य था। चैतन्य महाप्रभु अपनी नूतन भक्ति पद्धति को समस्त देश में फैलना चाहते थे, उनका विश्वास था कि हताश और मग्न मनोरथ जाति के मन में आत्म विश्वास और भक्ति भाव उत्पन्न होने पर ही जीवन, जागृति और कर्तव्य भावना का उदय हो सकता है। पुरी में उनका निवास स्थान नगर के कोलाहल पूर्ण वातावरण से दूर काशीमिश्र के उद्यान में था। इस उद्यान में उनके सेवक गोविन्द के अतिरिक्त स्वरूप दामोदर तथा राय रामानन्द उनके समीप रहते थे। एकान्त साधना के लिए यह उद्यान एक उत्तम स्थान था। इस स्थान पर चैतन्य महाप्रभु विरहासवित में लीन होकर श्री कृष्ण का नाम संकीर्तन करते, रुदन-प्रलाप करते और अचेत दशा में पड़े रहते थे। उनकी बाह्य शारीरिक दशा तो एक उन्मत्त जैसी रहती और लगता कि कोई दयनीय व्यक्ति उन्माद के कारण सुध-बुध खोकर

पड़ा है। किन्तु आभ्यन्तर मनोदशा में वे अत्यन्त प्रबुद्ध जागरूक, चेतना सम्पन्न भक्त जैसे होते। आकाश में छाये नीले बादलों को देखर उन्हें लगता कि श्रीकृष्ण ही सामने खड़े हैं। वे सहसा हाथ फैलाकर उन्हें पकड़ने दौड़ पड़ते, कभी समुद्र को यमुना समझ भावावेश की दशा में उसमें कूद पड़ते और जल-विहार लीला का आनन्दोत्सव मनाने लगते। संसार के लौकिक व्यवहार से उनका कोई सरोकार नहीं रह गया था। चैतन्य महाप्रभु इस जगत् में रहते हुए भी जागतिक साधारणमनुष्य नहीं रह गये थे। अध्यात्म सम्बन्ध से वे प्रभु की क्रीड़ में लीला करने वाले अवतारी पुरुष बन गये थे। उनकी लीलाओं में कृष्ण की नाना लीलाओं की छटा अन्तर्भुक्त रहती थी जिसे दिव्य दृष्टि वाले आस्तिक वैष्णव जन ही देख सकते थे।

चैतन्य महाप्रभु का अन्तर्धान :

पुरी में अठारह वर्ष का समय चैतन्य देव ने बड़े शान्त-स्निग्ध वातावरण में व्यतीत किया। लोक कल्याण का जो कार्य उन्हें स्वयं करना था उसे वे पूरा कर चुके थे। शेष कार्य अपने उत्तराधिकारी शिष्यों को सौंपकर, निश्चिन्त होकर, अपने भावावेशमय जीवन को पूरा कर रहे थे। संन्यासी का धर्म उनके भक्ति पथ को प्रशस्त कर रहा था। लोक मर्यादा से ऊपर उठकर भगवत्-मर्यादा ही उनका दायित्व था। जगन्नाथ जी के मन्दिर में जब भगवत् दर्शन के लिए जाते तो अपने चारों ओर के परिवेश से जुड़े न रहते। केवल जगन्नाथ जी के विग्रह में अपूर्व सौन्दर्य का दर्शन कर उनके नेत्र तृप्त हो जाते। वे भूल जाते कि वे कहां हैं, कौन हैं, किस परिदृश्य से बंधे हैं, कौन उनका सहचर है, कैसा उनका परिकर है। इस भौतिक चेतना के विलीन होने पर श्रीकृष्ण और उनका परिकर ही चैतन्य के अन्तरतम में समाया होतो, शेष सब विलीन हो जाता। चैतन्य के जीवनी लेखकों ने उनकी इस विलक्षण मुद्रा का सविस्तार वर्णन अपने ग्रंथों में किया है। वे लिखते हैं कि एक दिन भगवत् आवेश में चैतन्य देव जगन्नाथ जी को आगिंन पाश में बांधकर उनका ध्यान कर रहे थे कि उन्हीं में विलीन हो गये। कुछ लेखकों ने टोंटा गोपीनाथ के दर्शन करते समय उनमें लीन होना भी लिखा है। पुरी समुद्र तट पर स्थित तीर्थधाम है। भक्तजन समुद्र में स्नान करते और आनन्द मनाते हैं। कहा यह भी जाता है कि समुद्र की उत्ताल तरंगों में चैतन्य ने आनन्दोर्भि में अपना भौतिक शरीर प्रवाहित कर दिया। यह घटना शक संवत् १५४५ तदनुसार ईसवी सन् १५३४ की है। उस समय चैतन्यदेव की आयु अड़तालीस वर्ष की थी।

श्री चैतन्य महाप्रभु की इहलोक लीला संवरण की तिथि के सम्बन्ध में चिरित्र लेखकों में मतभेद पाया जाता है। कुछ लेखक आषाढ़ मास को उनके तिरोभाव का मास मानते हैं, दूसरे लेखक माघ मास में अन्तर्धान मानते हैं। किन्तु इतना सर्वसम्मत मत है कि महाप्रभु का तिरोभाव या अन्तर्धान सामान्य मनुष्य की भांति

न होकर अलौकिक रूप में हुआ और उनका भौतिक शरीर सागर में विलीन होगया।

श्री चैतन्य महाप्रभु का संदेश और जीवन दर्शन

श्री चैतन्य का संदेश जड़ता को तोड़ने वाला, चैतन्य का प्रकाश विकीर्ण करने वाला और मनुष्य के भीतर छिपे आत्मबल को उद्‌बुद्ध कर, निश्छल भाव से भगवान् की शरण में जाने का मार्ग प्रशस्त करता है। चैतन्य के संदेश की विशेषता यह है कि उन्होंने भक्ति जैसी व्यक्तिनिष्ठ साधना को बिना किसी कर्मकांड के जन साधारण के लिए साध्य बना दिया। श्रीकृष्ण की सौन्दर्यमयी लीलाओं को कीर्तन शैली से लोकप्रिय बनाकर जन-मानस को मोहित किया और जाति, कुल, वंश आदि का ऊंच-नीच भाव हटाकर सबको समान अधिकार से भगवान् के प्रांगण में ला खड़ा किया। इसका परिणाम यह हुआ कि निराश और भयत्रस्त जनता अपने आराध्य कृष्ण को इतने समीप पाकर, उनकी विविध लीलाओं में विभोर होकर भूल गई कि उन्हें कोई, भय, त्रास या पीड़ा है या उन पर किसी का दमन चक्र चल रहा है। आत्म-विस्मृति की यह दिव्य लहर श्री चैतन्य के भक्ति संदेश के द्वारा ही पहले बंगाल में और फिर समस्त भारत में फैल गई। इस नव्य संदेश को लोक-कल्याण का संकेत मानना चाहिए।

श्री चैतन्य का यह दिव्य संदेश, प्रेम मार्ग में डूबकर कीर्तन, गायन और नृत्य से पुलकित हो कर भगवत् शरण में ले जाने वाला है। चैतन्य ने श्रीकृष्ण की लोक रंजक लीलाओं को अपनी भक्ति-साधना में पूरा स्थान दिया था। जिस युग में चैतन्य ने अपना संकीर्तन-भक्ति का प्रचार किया वह युग सामान्यतः सामूहिक भक्ति के अनुकूल नहीं था। उस युग में धर्म अंतर की पावन साधना न रहकर दंभ और पाखंड का रूप धारण कर चुका था। योग-साधना के नाम पर नाथ पंथी सिद्धों का जमघट हो गया था, बौद्धों का सहजिया सम्प्रदाय वैष्णव समाज में प्रच्छन्न रूप से प्रवेश कर गया था। निर्गुण मार्गी संतों ने ज्ञान मार्ग का शुष्क उपदेश देकर जनता को सहज साधना और सहज समाधि के बहाने कठिन मार्ग पर डाल दिया था। ऐसे संक्रान्ति काल में श्री चैतन्य देव ने भागवत् पुराण को प्रमाण मान श्री कृष्ण भक्ति का वैधाभक्ति के जटिल पाश से मुक्त किया और लोकरंजक शैली से जन मानस तक पहुंचाया। श्रीकृष्ण के सगुण रूप का, उसके शील-सौन्दर्य का विविध लीलाओं के माध्यम से वर्णन सुनते ही जन मानस आनन्द विभोर हो उठा और सेसा प्रतीत हुआ कि चैतन्य की वाणी में श्रीकृष्ण की मोहिनी मूर्ति और संगीत भारती समवेत होकर साकार हो उठी है।

श्री चैतन्य देव ने अपने युग में 'ब्रह्म सत्यं जगत् मिथ्या' का उपदेश झाड़ने

वाले निर्गुणमार्गी नाथपंथी सिद्ध तथा दंभी साधओं से समक्ष भक्ति का एक नव्यव्यवहार्य एवं सुगम मार्ग प्रशस्त किया था जिसका उद्देश्य संसार का त्याग किये बिना अपने अराध्य के समीप सुगम मार्ग से पहुंचना था। भक्ति को कंटकाकीर्ण पथ से हटाकर लोक कल्याण के निमित प्रशस्त राजमार्ग पर लाना था। चैतन्य का भगवत् प्रेम गंभीर्य के उस तल तक बैठा हुआ है जहां सांसारिक कोलाहल तथा संघर्ष से संत्रस्त मन की समस्त वृत्तियां अपने लिए राग और प्रेम की अतुल निधि पाकर परितुष्ट हो जाती हैं।

यदि युग-सापेक्ष दृष्टि से तत्कालीन समाज को केंद्र बिंदु बनाकर चैतन्य के भक्ति संदेश का आकलन किया जाय तो स्पष्ट लक्षित होगा कि चैतन्य ने बाह्य प्रपंच से मुक्त होकर अन्तर्लीन दशा में संकीर्तन शैली का भक्ति-क्षेत्र में आविष्कार किया था। उन्होंने भक्ति को माधुर्य मंडित करके जन-जन तक पहुंचाने का ध्येय बनाया था। कदाचित् यही उस युग की सबसे बड़ी आवश्यकता थी। हताश और भग्नमनोरथ जातियां जब बाह्य उद्‌बोधन से जागृत नहीं होतीं तब उन्हें अन्तः उद्‌बोधन से जगाया जाता है। जागरण का यही नव्य संदेश चैतन्य के अंतः उद्‌बोधन में छिपा है।

भक्ति को ऐकान्तिक-व्यक्तिनिष्ठ साधना माना जाता है। मध्ययुग में इस ऐकान्तिक साधना को चैतन्य के तेजस्वी व्यक्तित्व से ऐसी उर्वर भावभूमि में पनपने का अवसर मिला कि यह ऐकान्तिक भक्ति साधना व्यक्ति सीमा को तोड़कर समष्टि सीमा में पहुंचकर समाज से सम्पृक्त हो गई। और भक्ति का पौधा विशाल वटवृक्ष बनकर आर्तजन को शीतल-सुखद छाया प्रदान करने वाला बन गया। चैतन्य के स्नेह-स्पर्श से यह भक्ति-पादप कल्पतरु बनकर मानवमात्र को मधुर फल देने वाला सिद्ध हुआ।

श्री चैतन्य महाप्रभु ने अपने जीवन में किसी एक दार्शनिक सिद्धांत का आग्रह व्यक्त नहीं किया। अद्वैत दर्शन को उन्होंने भक्ति क्षेत्र के लिए उपयोगी नहीं समझा और उसके अनुयायियों को मायावाद से मुक्त करने का प्रयास अवश्य कियां था, किंतु उन पर अपने किसी दार्शनिक मन्तव्य का बलात् आरोप नहीं किया। चैतन्य ने स्वयं द्वैताद्वैत विमर्श के लिए कोई दार्शनिक ग्रंथ नहीं लिखा। वे दार्शनिक कोटि के विचारक भी नहीं थे, इसलिए उनके जीवन काल में चैतन्य मत का कोई दार्शनिक सिद्धांत स्थापित नहीं हो सका। उनके अंतर्धान के बाद कुछ विद्वान् पंडितों ने उनके मौखिकं प्रवचनों तथा 'अष्टश्लोकों' के आधार पर 'अचिन्त्यभेदाभेद' नाम से दर्शन की सथापना का प्रयास किया। जो लोग मध्याचार्य के सम्प्रदाय में चैतन्य मत को रखने के आग्रही थे उन्होंने माध्वमत के अनुसार दार्शनिक मन्तव्यों का प्रतिपादन किया। इस प्रकार के समस्त प्रयत्न परवर्ती काल में हुए और उनके द्वारा चैतन्य सम्प्रदाय की दार्शनिक पृष्ठभूमि तैयार

की गई। बलदेव विद्याभूषण का गोविन्द भाष्य, सिद्धांत दर्पण और प्रमेय रत्नावली में चैतन्य के दार्शनिक सिद्धांतों की स्थापना का प्रयास देखा जा सकता है किंतु यह प्रयास चैतन्य के तीन सौ वर्ष बाद का है। विद्याभूषण महोदय ने अपने बुद्धि प्रकर्ष से दार्शनिक पक्ष की स्थापना की है।

चैतन्य महाप्रभु के जीवन वृत्त, दार्शनिक मन्तव्य और भक्ति विषयक विचारों को समझने के लिए संस्कृत और बंगला भाषा में लिखे कुछ विशिष्ट ग्रंथों का अवलोकन आवश्यक है। कवि कर्णपूर लिखित चैतन्यचरितामृत, मुरारिगुप्त प्रणीत श्री कृष्ण चैतन्य चरितामृत और प्रबोधानन्द सरस्वती रचित श्री चैतन्य चन्द्रामृत जीवन-वृत्त विषयक जानकारी के लिए उपयोगी हैं। इन सभी संस्कृत ग्रंथों में चैतन्य चरित को श्रद्धाभाव से चित्रित किया गया है अतः चमत्कार पूर्ण अलौकिक घटनाओं का भी पर्याप्त मात्रा में समावेश है। आज के बुद्धिवादी, तर्कशील, वैज्ञानिक युग में ये चमत्कारपूर्ण घटनाएं अवश्य ही कुछ अटपटी लगेंगी किंतु भक्त जन कामन इनमें ही लीन होता है और वे अपने अराध्य को महिमामंडित ही मन्तव्य भी यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं किंतु मूलतः इनका उद्देश्य चरित का उद्घाटन ही है।

भक्ति और दर्शन के क्षेत्र में सबसे अधिक प्रामाणिक लेखन श्री रूपगोस्वामी का है। उन्होंने हरिभक्तिरसामृत सिंधु और उज्ज्वलनीलमणि जैसे उच्चकोटि के ग्रंथ लिखकर भक्ति को भाव से हटाकर रस कोटि तक ले जाने में अमित योग दिया। उनके ये दोनों ग्रंथ साहित्य शास्त्र तथा भक्ति शास्त्र दोनों में समान रूप से समादृत हैं। जीवगोस्वामी ने षट् संदर्भो द्वारा रूप-सनातन के आकर ग्रंथों की सारगर्भित टीकाएं लिखकर चैतन्य मत को समझनें में उल्लेखनीय कार्य किया है। दर्शन के क्षेत्र में बलदेव विद्याभूषण का गोविन्दभाष्य सम्प्रदाय में स्वीकृत भाष्य है। इसमें अचिन्त्यभेदाभेद दर्शन की स्थापना की गई है। प्रमैय रत्नावली नामक ग्रंथ में विद्याभूषण ने दार्शनिक सिद्धांतों का विचार विमर्श प्रस्तुत किया है।

श्री चैतन्य ने श्री कृष्ण को सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापक, सर्वप्रतिपालक मानकर भी उनके माधुर्य-स्वरूप की उपासना का विधान किया है। यह ठीक है कि भगवान् की ऐश्वर्य एवं माधुर्य दोनों शक्तियों का श्रुतियों में वर्णन है फिर चैतन्य ने माधुर्य शक्ति पर बल क्यों दिया। इस का यही उत्तर है कि भगवान् के माधुर्य का मूल उनकी ह्लादिनी शक्ति है और ह्लादिनी शक्ति की वृत्ति प्रेम है, भगवान् प्रम के वशीभूत होते हैं। प्रेम की अधीनता माधुर्य की अधीनता है। माधुर्य को भगवान् का स्वरूप-लक्षण माना जाता है। जीव के संबंध में, चैतन्य का मत है कि वह भगवान् कृष्ण का नित्य दास है, श्री कृष्ण अंशी है, जीव अंश है।

श्री चैतन्य के मत में प्रेम ही परम पुरुषार्थ है, प्रेम पंचम पुरुषार्थ में स्थान पाकर भक्तजन के लिए साधना का अनिवार्य अंग बन गया। प्रेम को पारस्परिक

व्यवहार माना गया है अर्थात् भक्त जितने प्रेम भाव से भगवान् का भजन-कीर्तन करता है, भगवान् भी उतने ही प्रेम से भक्त के प्रति ममत्व रखते हैं। चैतन्य ने सदाचरण को भक्ति के साधन के रूप में स्वीकार किया है। वह सत्कर्म कहलाता है जिससे भगवान् श्री कृष्ण प्रसन्न होते हैं। तत्कर्म हरितोषयत्-हरिकोतोष ही सत्कर्म है।

श्री चैतन्य महाप्रभु के सार्वभौम संदेश के लिए उनके द्वारा स्वीकृत प्रमुख बिंदुओं को प्रस्तुत करना चाहते हैं। इन बिंदुओं पर यदि पूरा ध्यान दिया जाय तो उनका संदेश देश, काल, जाति, समुदाय की सीमाओं का अतिक्रमण कर सर्वत्र मननीय एवं स्वीकारयोग्य सिद्ध होता है।

वर्णाश्रम विचार का उच्छेद

श्री चैतन्य ने अपनी भक्ति-मर्यादा में स्मृति ग्रंथों में प्रतिपादित वर्णाश्रम धर्म को स्वीकार नहीं किया। यह अस्वीकृति बहुत विचार-विमर्श के बाद स्पष्ट होती है। वर्णाश्रमधर्म को भक्ति का अंग इसलिए नहीं माना कि इसके द्वारा भोग्य वस्तु की प्राप्ति होती है। भोग्य वस्तु सांसारिक होती है जो त्याज्य है। चैतन्य-चरितामृत में स्पष्ट कहा गया है कि वर्णाश्रम धर्म का परित्याग कर यदि भक्त भजन से च्युत हो जाये तो उसका अकल्याण नहीं होता। वर्णाश्रम धर्म में बंधा व्यक्ति सर्वतोभावेन कृष्ण-भजन का अधिकारी नहीं हो पाता अतः जात-पांत, ऊंच-नीच का विचार त्याग कर भगवद् भजन करना चाहिए। इसका प्रमाण है अद्वैताचार्य द्वारा हरिदास को वैष्णव मानकर सहर्ष अपनी पंक्ति में शामिल करना। हरिदास को मुसलमान होने के कारण कुछ लोग अस्पृश्य मानते हैं। किंतु चैतन्य की मंडली में वह परम वैष्णव ही समझा जाता है।

असत् संगत्याग :

असत् संग को चैतन्य ने भक्ति मार्ग का अवरोध माना है। असत् संग में परस्त्री संग को घोर अपराध कहा गया है, विश्वनाथ चक्रवर्ती ने भागवत के एक श्लोक की टीका में स्त्री-संग को अपराध की संज्ञा दी है। कृष्ण विमुख व्यक्तियों को त्याज्य माना गया है। भगवद् भक्ति रहित व्यक्ति ही असाधु कोटि में आता है, प्रभु के शरणागत होकर रहना ही सत्संगति है। केवल बाह्य तपश्चर्या से परमार्थ सिद्ध नहीं होता।

जीवदया :

जीव दया को चैतन्य ने बड़े व्यापक अर्थ में ग्रहण किया है। अहिंसा इस जीवदया का एक अंश है। किसी प्राणी को किसी कारण भी कष्ट न पहुंचे, मन में भी किसी को पीड़ा पहुंचाने की भावना उत्पन्न न हो तभी जीवदया का सिद्धांत सही तौर पर चरितार्थ होता है। जीवदया का उपदेश चैतन्य के मूल उपदेशों में

गिना जाता है।

अकिंचन वत् आचरण करना :

प्रभु की शरण में आये हुए भक्त को सब प्रकार की अस्मिता त्याग कर अपने को सर्वथा छोटा मानना चाहिए। यदि भक्त होकर भी अपने परिवेश और वैभव को भगवदार्पण करने में प्रमाद किया तो अकिंचनता न रहेगी और व्यक्ति को अपनी अस्मिता बोध में दंभ, मोह, माया, ममता आदि विकार उत्पन्न होंगे अतः अकिंचनता भक्त के लिए आवश्यक है। अकिंचनता से ही भक्ति क्षेत्र में दैन्य और कार्यण्य का भाव उत्पन्न होता है।

श्री चैतन्य ने अभिमान त्याग कर अकिंचन बनने का उपदेश देते हुए यह स्पष्ट कह दिया है कि भक्त अपने को तिनके से भी तुच्छ समझे, वृक्ष के समान सहिष्णु रहे, किसी प्रकार के सम्मान की इच्छा न करे तथा सभी जीवों को सम्मान देकर हरिकीर्तन में संलग्न रहे।

तृष्णादपि सुनीचेन तरोरिव सहिष्णुना।
अमानिना मानदेन कीर्तनीय : सदा हरिः ।

चैतन्य भागवत् के आधार पर ब्राह्मण से लेकर चांडाल और श्वान तक को सम्मान पूर्वक प्रणाम करने का उपदेश है। इस प्रणाम में अपना अभिमान गलकर नष्ट होता है और अन्य प्राणियों के प्रति सम्मान का भाव उदय होता है।

सहिष्णुता भक्त के लिए अत्यावश्यक गुण है। सहिष्णुता का सर्वोत्तम उदाहरण फलदायक वृक्ष है। वृक्ष को काटने वाला व्यक्ति अपने लाभ के लिए बड़ी क्रूरता के साथ वृक्ष पर कुठाराघात करता है किन्तु शान्त स्निग्ध भाव से प्रहारों को झेलता हुआ वृक्ष क्रूरकर्म, मनुष्य को पत्र, पुष्प, फल और अपने शरीर का काष्ठ प्रदान करता है। वृक्ष जिस प्रकार धूप-गर्मी, वर्षा-पानी सबको सहकर परोपकार के लिए खड़ा रहता है और पानी न मिलने पर सूख जाता है किन्तु किसी से पानी के लिए याचना नहीं करता वैसी ही सहिष्णुता साधक में होनी चाहिए। दूसरों का दुख दूर करने के लिए यदि स्वयं कष्ट भी उठाना पड़े तो सहर्ष प्रसन्न रहे।

वैराग्य भावना से जीवन-यापन

श्री चैतन्य ने वैराग्य की परिभाषा भिन्न प्रकार से की है। वैराग्य के दो भेद हैं :— युक्त-वैराग्य और फाल्गु वैराग्य। भक्ति के अनुकूल आसक्तिहीन होकर यथायोग्य भाव से विषयों का उपयोग करना युक्त वैराग्य है और इस वैराग्य की साधना भक्तों को करनी चाहिए। जो वैराग्य परिग्रह का भाव जगाकर भक्ति के प्रतिकूल होता है उसे फल्गु वैराग्य कहते हैं, यह त्याज्य

कोटि में आता है। युक्त वैराग्य भीतर का - भीतर अनासक्त हो विषयभोग का - वैराग्य है इसमें मन पूरी तरह अपरिग्रही रहता है। फल्गु वैराग्य में बाहर से मन रागहीन प्रतीत होता है किन्तु भीतर से वह पूरी तरह विषयासक्त होकर काम करती है।

अपराधों से आत्यन्तिकी निवृत्ति :

अपराध और पाप में भेद करके चैतन्य मत में चार प्रकार के अपराध गिनाये गये हैं। **भगवद् अपराध, सेवा अपराध, नाम अपराध,** और **वैष्णव अपराध** भगवान् के प्रति अवज्ञा करना, उनके स्वरूप को भौतिक मानकर उसकी अवेहलना करना उन्हें प्राकृत मनुष्य मानना भगवदपराध माना जाता है। भगवान् के उत्सवों में योगदान न करना, भगवत् विग्रह के सामने पीठ करना, एक हाथ से प्रणाम करना, झूठ बोलना, पैर पसार कर बैठना, अथवा श्री विग्रह के प्रति अश्रद्धा, प्रीति का अभाव या अनादर का क्रिया-कलाप **सेवापराध** है।

नामापराध इस प्रकार के गिनाए गये हैं। साधु निन्दा, विष्णु और शिव के नाम, रूप, लीला आदि को भिन्न मानना, गुरू की अवज्ञा करना, शास्त्रों की निन्दा करना, हरिनाम में अर्थवाद की कल्पना करना, नाम केभरोसे पापलिप्त रहना, शुभकर्मों के फल को नाम फल के समान समझना, नाम श्रवण या नाम ग्रहण में उपेक्षाभाव रखना, नामग्रहण को प्राधान्य न देना, तथा श्रद्धाहीन हरिविमुख व्यक्तियों को हरिनाम का उपदेश देना। इन दस प्रकार के अपराधों से साधक को दूर रहना चाहिए। यह अपराध पाकृत्य से भी बढ़कर घातक होता है।

गुरू तत्व निर्णय

चैतन्य सम्प्रदाय में गुरू महिमा का वर्णन मिलता है किन्तु सबसे प्रमुख गुरू तो श्रीकृष्ण ही है उसके बाद शिक्षागुरू और दीक्षा गुरू का स्थल है। भक्तिभावना और क़ीर्तन-पद्धति की शिक्षा देना शिक्षा गुरू का काम है। इसी कोटि में जीवगोस्वामी ने एक श्रवण गुरू भी माना है और उसके लक्षण प्रायः वही हैं जो शिक्षा गुरू के हैं। दीक्षागुरू उपासना का मंत्र प्रदाता होता है। इसे मंत्र गुरू भी कहा जाता है। शिक्षा गुरू तो अनेक हो सकते हैं पर दीक्षागुरू केवल एक ही होता है। दीक्षागुरू आचारनिष्ठ, संयमी, विद्वान्, अदोषदर्शी, प्रियवादी, सर्वभूत हित संलग्न, तत्वविचारक, शिष्य वत्सल, शुद्ध चित्त और कृपालु होना चाहिए। शिष्य को कदापि गुरू त्याग नहीं करना चाहिए। शिष्य का कर्तव्य आदरास्पद गुरू की मन, वचन, कर्म से सेवा करना है।

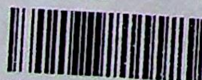
श्री चैतन्य ने अपनी भक्ति पद्धति का प्रचार करते समय नाम को विशेष महत्त दिया। नाम-नामी का अभिन्न सम्बन्ध भी स्वीकार किया गया है। संसार

के व्यवहार में नाम केवल संज्ञा या पदार्थ बोधक ही होता है किन्तु पदार्थ की अवश्यकता की पूर्ति नाम से नहीं होती। जल कहने से जल पदार्थ का बोध तो हो जाता है किन्तु तृषा शान्त नहीं होती। भगवान् के नाम में भगवान् के गुणधर्म में रहते हैं। यही नाम-नामी की अभिन्न सम्बन्ध है।

चैतन्य महाप्रभु का मानवता को प्रदेय :

चैतन्य देव की आज अवतार रूप में पूजा-अर्चा होती है। पांच सौ वर्ष बाद भी मानव जाति उनके प्रदेय को दिव्य अवदान के रूप में मानकर आत्म कल्याण के लिए उसे स्वीकार करती है। संसार के समस्त भौतिक सुखों का परित्याग कर उन्होंने संन्यासी के रूप में भक्ति का जो नवीन पथ प्रशस्त किया उस पर उच्चजाति का अभिमान रखने वाले ब्राह्मण से लेकर चांडाल तथा विधर्मी मुसलमान तक समान रूप से चलने के अधिकारी हैं। उन्होंने अपने जीवन में कभी युद्ध, हिंसा, कलह, द्वेष, निन्दा, छल-कपट, दंभ, ईर्ष्या, मद, मात्सर्य का मार्ग स्वीकार नहीं किया। मानवमात्र को अपना मित्र माना और सबके कल्याण की कामना करते हुए प्रेम का पुनीत पथ प्रशस्त किया। प्रेम को सर्वोच्च पुरुषार्थ के रूप में प्रतिष्ठित कर ज्ञानमार्ग की दुरूह शास्त्रीय घेराबन्दी से मुक्त किया। भक्ति के क्षेत्र में नये आन्दोलन का सूत्रपात कर संकीर्तन एवं नामस्मरण को सर्वजन सुलभ बनाया। भक्ति क्षेत्र से उन्होंने समस्त मानवों को समानाधिकार देकर वर्णाश्रम की शास्त्र मर्यादा को छोड़ने का आदेश दिया।

श्री चैतन्य महाप्रभु का सबसे बड़ा अवदान भक्ति तत्व का सार्वकालिक एवं सार्वदेशिक, सर्वजनग्राह्य रूप प्रतिपादन ही है। इस भक्ति तत्व को सुबोध और सुगम बनाने के लिए उन्होंने अपने विद्वान शिष्यों को नियुक्त किया और गंभीर विवेचना का साहित्यक मार्ग भी प्रशस्त किया। उनके शिष्यों की विशाल परम्परा है जिन्होंने उच्चकोटि के ग्रंथ लिखकर चैतन्यमत को स्थिर किया है। चैतन्य पंचशती के अवसर पर हम उन मनीषी विद्वान शिष्यों का भी सादर स्मरण करते हैं। इन मनीषी शिष्यों की कृपा से ही श्री चैतन्य का संदेश और जीवनदर्शन आज हमें सुलभ हो सका है।



वि विज्ञापन और दृश्य प्रचार निदेशालय, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार द्वारा आकल्पित एवं प्रकाशित। मुद्रक: गोवर्धन कपूर एण्ड सन्स, नई दिल्ली।
स. 2/4/87-पी.पी.-III हिन्दी-20,000 नवम्बर 87